प्राप्ति स्थान-

(१) गुर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय
गांधीमार्ग फूवारा सामे
अहमदाबाद-१

(२) पं. इन्द्रचन्द्रजी
C/o भारत मेडिकल स्टोर्स
केदारनाथ भवन जुना नागरदास रोड
अंधेरी इस्ट बम्बई-६९

(३) सोमचन्द डी. शाह
पालीताणा (सौराष्ट्र)

(४) शोरीलालजी नाहर
शांति जैन मीडल स्कूल मार्ग
ब्यावर-(राज.)

(५) सेवन्तीलाल वी. जैन
२०, महाजनगली, पहेले माले
झवेरी बाजार, बम्बई-२

(६) सरस्वती पुस्तक भंडार
रतनपोल हाथीखाना
अहमदाबाद-१

आवृत्ति प्रथम
विक्रम संवत् २०३४
किमत-४-०० रु.

मुद्रक-
ज्ञानोदय प्रिन्टिंग प्रेस,
पिंडवाड़ा (राजस्थान)

१ पञ्च परमेष्ठि नमस्कार-महाश्रुतस्कन्ध

१ महा मङ्गलरूप नवकार मन्त्र

नमो अरिहन्ताणं ।
नमो सिद्धाणं ।
नमो आयरियाणं ।
नमो उवज्झायाणं ।
नमो लोए सव्व साहूणं ।
एसो पञ्च-नमुक्कारो ।
सव्व-पावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं,
पढमं हवइ मंगलं ॥ १ ॥

पद (९) सम्पदा (८) गुरु अक्षर (७) लघु अक्षर (६१) सर्व अक्षर (६८)

इस सूत्र में अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन पञ्च परमेष्ठि को नमस्कार किया गया है। इसके स्मरण से सब पाप और विघ्न दूर होते हैं। यह नवकार मन्त्र सर्व मन्त्रों में प्रथम मङ्गलरूप है।

❀ अनुक्रमणिका ❀

दुर्गति से भीरू एवं सद्गति की इच्छुक आत्माओं को जितनी आवश्यकता सद्ध्यान की है उतनी ही आवश्यकता ध्यान को सुधारने वाले सदाचरण की, आचरण को सुधारने वाले सम्यग्ज्ञान की और ज्ञान को सुधारने वाली सम्यक् श्रद्धा की है। श्री जैनशासन की आराधना का तात्पर्य सत्श्रद्धा, सत्ज्ञान, सद्कर्तव्य और सद्ध्यान तथा इन चारों को धारण करने वाले सत्पुरुषों की आराधना है। इस चतुष्टयी में से किसी एक की अथवा इस चतुष्टयी को धारण करने वाले किसी भी व्यक्ति की अवहेलना श्री जैन शासन की ही अवहेलना है। इस चतुष्टयी तथा इन चारों को धारण करने वालो की सतत् आराधना ही श्री जैनशासन की वास्तविक आराधना है। श्री जैन शासन की सम्यक् आराधना करने की इच्छुक आत्माओं को अकेला ज्ञान, ध्यान श्रद्धा या चारित्र कभी भी संतोष नहीं दे सकता। श्रद्धा रहित ज्ञान अथवा ज्ञानरहित क्रिया एवं क्रिया रहित शुष्क ध्यान मुक्ति प्रदान करने में समर्थ नहीं होता। इसी कारण अकेला ज्ञान, ध्यान, श्रद्धा अथवा चारित्र को मुक्ति का मार्ग नही माना जाता, परन्तु श्रद्धा, ज्ञान, क्रिया और ध्यान इन चारों का सुमेल ही मुक्ति मार्ग है। इतना ही नहीं, पर इन चारों की सम्पूर्ण शुद्धि भी आवश्यक है।

चारों की शुद्धि

(१) श्रद्धा की शुद्धि अर्थात श्रद्धेय वस्तु श्रद्धावान आत्मा और श्रद्धा के साधनों की शुद्धि।

(२) [illegible] की शुद्धि अर्थात ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान के साधनों [illegible]द्धि।

प्रकर्षमय है। वीतराग के प्रति श्रद्धा में जिस प्रकार दोषों के विजय की श्रद्धा व्यक्त होती है, उसी प्रकार गुणों के प्रकर्ष के प्रति भी श्रद्धा अभिव्यक्त होती है। इन दोनों के प्रति श्रद्धा से उत्पन्न भक्तिराग भी जब उसके प्रकर्ष को प्राप्त होता है, तब वह आत्मा को एक क्षण-अन्तर्मुहूर्त में वीतराग सम बना देता है।

निर्ग्रन्थ गुरु

जैन शासन में श्रद्धेय रूप में प्रथम स्थान पर जिस प्रकार वीतराग है, वैसे ही दूसरे स्थान पर निर्ग्रन्थ गुरु है। निर्ग्रन्थ गुरु अर्थात् वीतराग नहीं होते हुये भी वीतराग बनने के लिये सतत् प्रयत्नशील है। ग्रन्थ का अर्थ परिग्रह है और जैनशासन में परिग्रह का अर्थ मूर्च्छा ममत्व होता है। आत्मा और उनके गुणों के अतिरिक्त जगत के किसी भी पदार्थ के प्रति (मूर्च्छा के अत्यन्त कारण भूत स्वशरीर के प्रति भी) ममत्व अथवा राग भाव धारण नहीं करना ही निर्ग्रन्थता का प्रकर्ष है। आत्मा और उसके गुणों के प्रति राग वह मूर्च्छा या ममत्व रूप नहीं, परन्तु स्वभाव रमणतारूप है। स्वभाव रमणता दोष नहीं परन्तु वस्तु का निज स्वरूप है अतः वह सहज तथा निर्दोष है। निर्ग्रन्थता के प्रति श्रद्धा यह वीतराग भाव के प्रति ही श्रद्धा का एक प्रकार है। वीतराग दोष रहित है और निर्ग्रन्थ गुरु दोष सहित होने पर भी दोष रहित बनने का प्रयास कर रहे हैं। दोष के अभाव में दोष मुक्त रहना यह तो सहज स्वभाविक है, परन्तु दोष की उपस्थिति मे दोषों के आधीन न होना यह आसान नहीं है। ... के आक्रमण के सामने स्थिर बने रहना और दोषों को मूल से उखाड़ देने हेतु सतत प्रयत्न करते रहना यह निर्ग्र- ... है। यही निर्ग्रन्थता वीतराग की सखी है। ऐसी निर्ग्र-

म्यता को प्राप्त किये हुए महापुरुषों के प्रति श्रद्धा धारण करना भी सच्ची वीतरागता की भक्ति का ही प्रतीक है। वीतराग के प्रति भक्ति भाव जिस प्रकार दोषों का दाहक और गुणों का उत्तेजक है, वैसे ही निर्ग्रन्थ के प्रति भक्ति भाव भी दोष दाहक तथा गुणोत्तेजक है।

श्रुत चारित्र धर्म

जैन शासन में संक्षेप रूप में प्रथम स्थान जिस प्रकार वीतराग का है, और दूसरा स्थान निर्ग्रन्थ का है। वैसे ही तीसरा स्थान वीतराग भाषित और निर्ग्रन्थ पालित श्रुतरूप और चारित्र रूप धर्म का है।

श्रुत धर्म की श्रद्धा का अर्थ वीतराग के वचन स्वरूप शास्त्र में बताये हुये पदार्थों तथा तत्त्वों पर विश्वास है अर्थात् प्रकृति निर्दिष्ट शास्त्रों (भौतिक) पर द्रव्य और (लोकोत्तरिक) पर तत्त्वों का स्वरूप जिस प्रकार बताया है वे उसी प्रकार ही है, ऐसी अस्खलित श्रद्धा एवं विश्वास। इस विश्वास के बल पर जगत् का स्वभाव और मोक्ष का स्वरूप जैसा है वैसा यथार्थ रूप से जानने एवं समझने का अवसर मिलता है। जिसके परिणाम स्वरूप क्रमशः शुद्ध चारित्र धर्म की भी प्राप्ति होती है।

चारित्र धर्म एक ऐसी वस्तु है कि जिसकी जब तक पूर्ण अथवा आंशिक प्राप्ति न हो तब तक यह जीव दूसरों को पीड़ा पहुँचाने से मुक्त नहीं हो पाता तथा जहां तक यह जीव पर पीड़ा से अंश मात्र भी निवृत्त नहीं होता तब तक अपने पर आ पड़ी हुई अनन्त अथवा अल्पमात्री पीड़ायें रुक नहीं सकतीं। स्वपीड़ा का उत्पत्ति स्थान परपीड़न के निमित्त रूप में है। पर

निमित्त मन से, वचन से, अथवा काया से जब तक लेशमात्र भी होता है, तब तक तन्निमित्त कर्म बंधन प्रारम्भ ही रहता है। इससे छूटने का उपाय हिंसादि पाप स्थानों से त्रिविध त्रिविध विरति-निवृत्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं जब तक यह निवृति नहीं होती, तब तक कर्म का आश्रव रुकता नही है और एक बार भी कीये हुये कर्म का आश्रव अपना फल आत्मा को दिये बिना नहीं रहता। कहा है कि:-

'नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म, कल्पकोटिशतैरपि।'

वांधा हुआ कर्म भोगने के बिना करोडों कल्पों में भी नष्ट नहीं होता।

परपीडा पाप है, और परोपकार पुण्य है, ये दोनों बाते एक और एक दो जैसी स्पष्ट है, फिर भी जिनको इस विषय में थोडा भी संदेह हो उनको विचार करना चाहीये। जब कोई अपने को दुःख देता है, तो हमें यह विचार आता है कि वह पाप कर रहा है, तथा यदि कोई अपने पर उपकार करता है तो क्या हमें ऐसा लगता है कि वह पुण्य का कार्य कर रहा है, यदि ऐसा आभास होता है, तो जो नियम अपने लिये ही सत्य है, उसे दूसरों के लिये सत्य नहीं मानने का क्या आधार है? कोई नहीं। कांटे में से कांटे एवं अनाज में से अनाज यह सृष्टी का अटल नियम है। इस नियम के अनुसार ही पीडा में से पीडा और उपकार में से उपकार होना ही सिद्ध होता है। चारित्र धर्म पर पीडा का परिहार स्वरूप और परोपकार का प्रधान अंग है। उस चारित्र धर्म पर श्रद्धा और उसके पालन के शुभ एवं कल्याणकारी फल के प्रति अखण्ड विश्वास भी सद्भक्ति और सदाकी प्रेरणा का बीज है।

कि वह श्रद्धेय बने है। आत्मा को एकान्त नित्य अथवा एका
क्षणिक माना जाय, एकान्त शुद्ध अथवा सवथा निर्गुण मान
जाय। शरीर से एकान्त भिन्न अथवा एकान्त अभिन्न माना जाय,
तो केवल श्रद्धा ही नहीं अपितु किसी भी गुण की प्राप्ति अप्राप्ति
घट नहीं सकती। श्रद्धा, ज्ञान चारित्र अथवा ध्यान आदि गुणो
की प्राप्ति अप्राप्ति आत्मा मे तभी ही घट सकती है यदि आत्मा
नित्यानित्य, शुद्धाशुद्ध अथवा शरीर से भिन्नाभिन्न हो। द्रव्य
से नित्य होते हुये भी पर्याय से अनित्य, मोक्ष में शुद्ध होते हुये
भी ससार में अशुद्ध, निश्चयनय से शरीर से भिन्न होते हुये भी
व्यवहार नय से अभिन्न, इस प्रकार की आत्मा को नहीं माना
जाय तो श्रद्धादि गुणों की प्राप्ति अप्राप्ति का विचार निरर्थक
ठहरता है और इन विचारों को बताने वाले शास्त्र भी कल्पित
बन जाते हैं। श्री जैन शासन में आत्मा का जिस प्रकार का नित्या-
नित्यात्मक रूप बनाया है, यदि उसी प्रकार माना जाय तो मोक्ष
मार्ग का निरूपण श्रद्धेय बनता है।

श्रद्धा आदि के साधनों की शुद्धि

जिस प्रकार श्रद्धेय पदार्थों और श्रद्धावान आत्मा की
शुद्धि आवश्यक है, उसी प्रकार श्रद्धा के साधनों की शुद्धि की
आवश्यकता रहती है। श्री जैन शासन में श्रद्धा उत्पन्न करने के
दो प्रकार के साधन कहे गये है।

तन्निसर्गादधिगमाद्वा।

...दर्शन की उत्पत्ति जैसे निसर्ग से होती है वै
...म से भी होती है। निसर्ग का अर्थ है जिस में आत्म
...तिरिक्त अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं। अधि

चारित्र के (७०) भेद उसके असंख्य प्रभेद तथा संयम स्थान बताये गये हैं। क्रियावान आत्मा की लेश्या तथा उसकी शुद्धि अशुद्धि (१४) गुणस्थानक और उसमें असख्य भेद प्रभेद प्ररूपित किये गये हैं। क्रिया के (गुरुकुलवासादि) बाह्य तथा (वीर्यान्तराय क्षयोपशमादि) अभ्यन्तर साधन भी शुद्ध रीति से बताये गये हैं।

ध्यान की शुद्धि हेतु ध्येय रूप में मुक्ति, मुक्तिस्थान, मुक्ति के जीव, मुक्ति का सुख ध्याता रूप में। नित्यानित्यत्वादि स्वरूप वाली आत्मा और ध्यान के साधन रूप में बाह्य अभ्यन्तरादि बारह प्रकार के तप का सुविस्तृत और सुसंगत वर्णन किया गया है। इसलिये ये सब पदार्थ परम श्रद्धेय हैं।

सांगोपांग आराधना

इस प्रकार श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र तथा ध्यान इस चतुरंग मुक्ति का मार्ग श्री जैन शासन में व्यवस्थित रूप से बताया गया है। उसकी सांगोपांग आराधना जीव को थोडे ही समय में मुक्ति सुख को प्रदान करने वाली होती है, श्री जैन शासन की यह विशेषता है कि इन चारों में से किसी एक अंग की भी आराधना में चारों अंगो की साधना समन्वित है। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन की शुद्धि हेतु त्रिकाल जिनपूजन (प्रातःकाल और सायंकाल धूपदीपादि द्वारा और मध्याह्न काल मे जल चंदन, पुष्पादि द्वारा) कीया जाता है। इसमें श्री जिनेश्वर देवों के प्रति विनय भक्ति और आदर प्रदर्शित कीया जाता है। जिससे श्रद्धा की शुद्धि होती है। श्री जिनेश्वर केवलज्ञानी, शुक्लध्यानी यथाख्यात चारित्री है, अतः इनका पूजन, अर्चन, वंदन

पू. पंन्यासजी महाराज द्वारा लिखित हिन्दी (अनुवादित) साहित्य

卐

१. महामंत्र की अनुप्रेक्षा

२. परमेष्ठि नमस्कार

<u>पोकेट–बुक्स</u>

१. धर्म

२. प्रार्थना

३. भक्ति

४. आत्मा व मुक्ति

卐

का सामर्थ्य मात्र तीर्थंकर देवों की आत्माओं को ही प्राप्त हो सकता है। उनसे अतिरिक्त केवलज्ञानी महर्षि धर्म तीर्थ का स्थापन तथा शिष्य-प्रशिष्यादि की परम्परा से उसका अविच्छिन्न पालन और प्रकाशन करने तथा करवाने में समर्थ नहीं हो सकते। धर्म तीर्थ का प्रकाशन, चतुर्विध संघ का स्थापन तथा बुद्धि निधान गणधरादि शिष्यों द्वारा द्वादशांगी (आगमशास्त्र) की रचना, श्री तीर्थंकर नाम कर्म की सर्वश्रेष्ठ पुण्य प्रकृति का उपभोग करने वाले तीर्थङ्कर महर्षि ही कर सकते हैं। इस कारण से धर्म के आदि प्रकाशक श्री अरिहंत परमात्मा अथवा श्री तीर्थङ्कर देवों को ही मानना वास्तविक है।

श्री अरिहंत देव

अरि अर्थात् राग द्वेषादि आन्तरिक शत्रु, उनके हंत अर्थात् हनन करने वाले देव ही अरिहंत देव है। इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि राग द्वेषादि अंतरंग शत्रुओं के हंता अकेले श्री अरिहंत देव ही होते हैं, अन्य कोई नहीं। सर्व केवलज्ञानी महर्षि और सिद्ध परमात्मा आंतरिक शत्रुओं पर सर्वथा विजय प्राप्त करके ही केवल- [illegible] अथवा श्री सिद्धिपद को प्राप्त करते हैं परन्तु आन्त[illegible] [illegible] नाश करने के उपरांत श्री अरिहंत देवों के

आवश्यक है। उससे पहले एक बात समझ लेनी चाहिये कि शास्त्रकार महर्षियों की ओर से शासन की सेवा करनी चाहिये ऐसी जहां भी आज्ञा की जाती है वहां वह 'सेवा' शब्द बहुत विशाल अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सामान्य रूप में 'सेवा' शब्द का जहाँ जहाँ प्रयोग आता है, वहां सर्वत्र जिसकी सेवा की जानी है उसे प्रसन्न करने की क्रिया के अर्थ में वह शब्द प्रयुक्त होता है। जैसे कि लौकिक धर्मों में ईश्वर सेवा, देव-देवी की सेवा, गुरु की सेवा इत्यादि समस्त प्रयोगों में सेव्य की प्रसन्नत सम्पादन करने का अर्थ छिपा हुआ है। लोक व्यवहा में भी यही नियम है यथा राज सेवा, मां बाप की सेवा गुरु शिक्षक की सेवा, स्त्री-पुत्रादि की सेवा, स्वजन परिवार की सेवा, लोक अथवा देश बन्धुओं की सेवा, सभी प्रयोगों में उन उन व्यक्तिओं की प्रसन्नता सम्पादन करने का हेतु व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में विद्यमान ही है अथवा वे सारी सेवायें व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में उस उस सम्बद्ध सेव्य को प्रसन्न करने का सामर्थ्य रखती हैं।

शासन सेवा ही आत्म सेवा

श्री जैन शासन की सेवा में उपर्युक्त अर्थ से तदन भिन्न ही अर्थ है। यह कही जाती है शासन की सेवा,

श्री जैन शासन और उसके चुस्त अनुयायियों पर इस प्रकार का आक्षेप विचारणीय है। श्री जैन शासन द्वारा दर्शित आचार विचारों, इनका पालन और आचरण वर्तमान युग में असंभव है, ऐसा कहना क्या सत्य है ? इसके अनुयायी वद्धाग्रह के कारण उसे पकड़े रहते हैं और छोडते नहीं, ऐसा कहना क्या न्यायसंगत है ? ऐसा कहने से तो एक सुशक्य और उपकारक शासन की आराधना से जगत को अकारण वंचित रखना होगा तथा एक सर्वश्रेष्ठ शासन का सुविचारपूर्वक आदर करने वाले सुविवेकी वर्ग के प्रति घोर अन्याय करने जैसा होगा। श्री जैन शासन दर्शित आचार विचार मनुष्य को उसके नित्य जीवन में कितने उपकारक हैं और उनके पालन से अल्प प्रयत्न से ही वे कितने प्रकार के बाह्य अनर्थों से बच पाते हैं, इसका जब जब इस दृष्टि से विचार किया जाता है, तब तब इस शासन के संस्थापक महापुरुषों पर एक अपूर्व भक्ति भाव जागृत हुए बिना नहीं रहता

आज की परिस्थिति

मनुष्य जाति को आपत्ति से उबार लेने हेतु आज अनेक प्रकार की शोध, खोजें हो रही हैं और उनके पीछे करोड़ लाखों करोड़ों और अरबों रुपये खर्च किये जा

ही सिद्ध होते जा रहे हैं । श्री जैन शासन के आदेश और उपदेश का यथाशक्ति पालन करने वाला इस प्रकार की आपत्ति और पीड़ा से कैसा अछूता बच जाता है यह बहुत समझने योग्य है ।

भोजन का प्रभाव

श्री जैन शासन के आदेश और उपदेश का यथाशक्ति पालन करने वाली आत्मा रोग से ग्रसित नहीं होती ऐसा नहीं, परन्तु मात्र कर्मोदय जनित रोग की पीड़ा ही इसे सहनी पडती है । शक्ति और सौन्दर्य के लिये नयी नयी दवाइयां का उपभोग करने से उत्पन्न होने वाले नये नये रोगों का भोग वह कभी नहीं होता । दवाइयों का उपयोग नहीं करने के साथ उसके द्वारा मान्य शासन के आदेशानुसार वह अभक्ष्य अथवा अनन्त काय का भी कभी भोजन नहीं कर सकता । श्री जैन शासन द्वारा मान्य अभक्ष्य या अनन्तकाय इस प्रकार के पदार्थ हैं कि इनका भोजन करने वाला आत्मा पूर्व का तीव्र पुण्योदय न हो तो क्वचित् ही आगन्तुक रोगों का भोग होने से बच सकता है । बासी या विदल तुच्छ फल या अनजाने फल रस या अचार, मांस या मदिरा, मधु य[illegible] [illegible]ं, बरफ या ओले, बहुबीज या अनन्त काय, रात्रि

"फ्रांस साम्राज्य की प्रगति में परिवर्तन होने का कारण यह था कि जब मस्तिष्क को सन्तुलित रख कर उचित सैन्य संचालन करने की आवश्यकता थी तब नेपोलियन ने प्याज़ खाया था। प्याज के प्रभाव वश उसने सैन्यव्यूह रचना करने में भारि भूल करदी थी और परिणामस्वरूप लिप्जिग के महत्व के युद्ध में उसे हार खानी पड़ी थी।

"आहार शास्त्र के अध्ययन से समझ में आता है कि मनुष्य को होने वाली व्याधियों में सौ में से निन्नयानवे प्रतिशत व्याधियां अयोग्य खानपान अथवा सीमा से अधिक खाने से होती हैं। बत्तीस प्रकार के पकवानों औ[र] तेतीस प्रकार के शाकों से परसी हुई श्रीमन्त लोगों क[ी] दबदबे वाली थाली में अजीर्ण, संधिवात, जलोदर, ज्व[र] और दूसरे रोग गुप्त रुप से छिपे हुए होते हैं।

"स्पेन का पांचवा चार्ल्स शय्या से उठते ही पौ[ष्टिक] वस्तुओं का जलपान करता, मध्याह्न बारह बजे भा[री] भोजन लेना, सायंकाल तीव्र वस्तुओं के साथ साथ भां[ति] भांति की शराब चढ़ाता और मध्यरात्रि में पुनः खाता इस प्रकार के खान पान से वह पैंतालीस वर्ष की वय [में] बिल्कुल अशक्त हो गया था।

"फ्रांस साम्राज्य की प्रगति में परिवर्तन होने का कारण यह था कि जब मस्तिष्क को सन्तुलित रख कर उचित सैन्य संचालन करने की आवश्यकता थी तब नैपोलियन ने प्याज खाया था। प्याज के प्रभाव वश उसने सैन्यव्यूह रचना करने में भारि भूल करदी थी और परिणामस्वरूप लिप्जिग के महत्व के युद्ध में उसे हार खानी पड़ी थी।

"आहार शास्त्र के अध्ययन से समझ में आता है कि मनुष्य को होने वाली व्याधियों में सौ में से निन्नयानवे प्रतिशत व्याधियां अयोग्य खानपान अथवा सीमा से अधिक खाने से होती हैं। बत्तीस प्रकार के पकवानों और तेतीस प्रकार के शाकों से परसी हुई श्रीमन्त लोगों की दबदबे वाली थाली में अजीर्ण, संधिवात, जलोदर, ज्वर और दूसरे रोग गुप्त रूप से छिपे हुए होते हैं।

"स्पेन का पांचवा चार्ल्स शय्या से उठते ही पांच वस्तुओं का जलपान करता, मध्याह्न बारह बजे भारी भोजन लेना, सायंकाल बीस वस्तुओं के साथ साथ भांति भांति की शराब चटाता और मध्यरात्रि में पुनः खाता। इस प्रकार के खान पान से वह पैंतालीस वर्ष की वय में [illegible] अशक्त हो गया था।

“नगर का प्रहार पाशापा नागे मन्याद से अर्ध रात्रि भर खाना ही रहता था । कर्ण-पुला पर ही समग्र व सार्वकालीन भोजन में मद्य-मांस रूपथ गर्म रखता था और मीनार का व्यवहार तो अत्याचार से पूर्ण था । अधिक आहार, मद्यपानादि व्यसन एवं विषयता सदैव साथ ही रहते हैं ।

आरोग्य की दृष्टि से भी मात्र निद्रा तुष्टि के पहले शरीर को पोषित करने वाले आहार के पदार्थ जो विचार पूर्वक पसंद किये जाय, तो रोगावस्था का नाश होता है । इतना ही नहीं परन्तु द्रव्य, श्रम और डाक्टर की फीस का भी बचाव होता है ।

इत्यादि इत्यादि बहुत सी बातें आहार से शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव के विषय में लिखी हैं । अपने यहां कहावत है कि ‘जैसा आहार वैसी डकार’ उसी तरह जर्मनी आदि देशों में भी उसी प्रकार की कहावतें हैं कि ‘मनुष्य जैसा खाता है वैसा बनता है’ इत्यादि । इस अनुभव का कोई खंडन नहीं कर सकता है । मनुष्य को निरोग रखने के लिये जैसे अभक्ष्य भक्षण के त्याग की आवश्यकता है उसी तरह मनुष्य को दयालु रखने के लिये भी उसी की आवश्यकता है । इस पर भी इसका जितना पालन जैन कुलों में हो रहा है, उसका एक लक्षांश भी दूसरा

से नहीं होता। इस अभक्ष्य भक्षण के त्याग का पालन आज एक बालक से लेकर वृद्ध पर्यन्त के समस्त आत्मा संस्कारी जैन कुलों में चुस्ती एवं किसी भी प्रकार के दबाव, अभिमान अथवा आडंबर विना नैसर्गिक रुपसे कर रहे होंगे इस सत्य का किसी के द्वारा भी निषेध हो सके वैसा नहीं।

उद्धार का मार्ग

आरोग्यादि किसी भी प्रकार की अभिलाषा के विना उपर्युक्त पदार्थों का जीवनपर्यंत सर्वथा त्याग, किसी भी प्रकार के आडम्बरादि को धारण किये विना भोगों को ही एक तरह मानने वाले आज के जडवाद प्रधान काल में अनेक आत्मायें अखंडित रूप से आचरण कर सकें यह प्रभाव कोई साधारण नहीं और यह प्रभाव श्री जैन शासन द्वारा दर्शित आराधना के मार्ग का ही है इसका किसी के द्वारा इन्कार नहीं किया जा सकेगा।

अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण आरोग्य में बाधक है, यह बात इस प्रकार के अनेक सत्यशोधक डाक्टरों अथवा आयुर्वेद शास्त्र के अभ्यासियों को स्वीकार करना पड़ा है। [illegible] भी उनका जीवन पर्यन्त त्याग करना [illegible] शासन और उसकी आराधना को न प्राप्त [illegible] आत्माओं के लिये शक्य नहीं। इतना ही नहीं,

परन्तु उनके साथ उनके अन्दर के अभक्ष्य पदार्थ का भी आत्यंतिक रूप से त्याग करवाना बहुत कठिन है। जब स्व शरीर के आरोग्य संरक्षणार्थ भी उस प्रकार के अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण का त्याग जनता के लिए अशक्य असंभव बन गया है तब उसी युग में जीव रक्षा के लिये, परलोक के पारमार्थिक हित हेतु अथवा केवल धर्म शास्त्र कारों की आज्ञा के पालनार्थ हजारों बालक एवं बालिकायें युवक और युवतियाँ, प्रौढ़ और प्रौढ़ायें, वृद्ध तथा वृद्धायें उसका सर्वथा त्याग कर रहे हों, यह बात क्या कम अनुमोदनीय है? इन अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण के त्याग से सहज रूप से ही इसके त्याग का आचरण करने वाले उन पदार्थों के भक्षण से उत्पन्न होने वाले हजारों रोगों से अपने आप बच जाते हैं। इतना ही नहीं, परन्तु जीवरक्षादि आत्मा के उच्च अध्यवसाय स्थायी रह सकते हैं। वैसी आत्मायें अपनी सात्विक, दयालु और कोमल अहिंसक भावनाओं का इस घोर हिंसक युग में भी जीवन के अन्त तक रक्षण कर सकती हैं।

जगत को शारीरिक रोग और मानसिक व्याधियों से मुक्त करने के लिये इतनी इतनी औषधियों का प्रयोग तथा साहित्य एवं तत्वज्ञान प्रचारित होते हुए भी जिन रोगों और व्याधियों का तथा उनसे उत्पन्न होने वाले

उपद्रवों का निवारण नहीं हो सका, वह श्री जैन शासन की दर्शाई हुई आराधना के एक प्राथमिक, स्वल्प और सहजता से आचरण किया जा सके ऐसे अंग को अपना लेने से हो सकता है।

श्री जैन शासन द्वारानिषिद्ध एक अभक्ष्य भक्षण का त्याग यदि समस्त सृष्टि महर्ष स्वीकार कर ले, तो कितने उपद्रवों से विना आडंबर, विना धन के व्यय अथवा विना दूसरों को कष्ट दिये बच जाये ?

मनुष्य जाति अभक्ष्य का भक्षण करती है, रोग से पीड़ित होती है और फिर उसके संरक्षण के लिये निरपराध पशु और जंतुजगत का संहार करके दवायें उत्पन्न करने वाले दयालु माने जाते हैं, इसकी अपेक्षा मनुष्य जाति को अभक्ष्य भक्षण से ही बचा लेने का प्रयास करने वाले परम दयालु हैं ऐसा न मानने का क्या कारण है ?

निरपराध प्राणियों के संहार से मनुष्य जाति पर चढ़ते जाते पाप का भार क्या मनुष्य दया की आड़ में ढंक जायेगा ? पाप तो पाप ही और उसमें भी निरपराध त्रस जन्तुओं की हिंसा यह तो घोर पाप है, इसके विपाक अतिशय कड़वे हैं तथा एक बार पाप कर लेने के पश्चात् उसके परिणाम से किसी से भी छूटा नहीं जा सकता यह [illegible] है। इसके सम्मुख आंख मिचौनी करने से

मनुष्य जाति का क्या भला होने वाला है? श्री जैन शासनाधिपति श्रमण भगवान् महावीर के समय की बातें वर्तमान युग में जिस के लिए उपयोगी हो सके ऐसी नहीं। इस प्रकार के कथन के उनके द्वारा किये हुए ज्ञान का प्रयत्न करना स्वयं को खतरे में डालने के समान है।

महारंभों का भी त्याग करना चाहिये

अभक्ष्य भक्षण का जीवन पर्यन्त त्याग, यह जैसे श्री जैन शासन का आदेश है वैसे आजीविका अथवा जीवन निर्वाह के साधन प्राप्त करने के लिये तथा व्यापारादि से धनवृद्धि के लिये भी जिसमें महारंभ यावत् पंचेन्द्रिय प्राणियों का भयंकर विनाश होता है, ऐसे व्यवसाय नहीं करने का फरमान भी श्री जैन शासन ने ही किया गया है। इस फरमान से उस उस धंधे में नाश को प्राप्त होते प्राणियों को अभयदान मिलता है। इतना ही नहीं, परन्तु ऐसे महारंभ जनित व्यापारों से कृत्रिम रूप से उत्पन्न होने वाले और मनुष्यों के सुख और सुविधाओं में वृद्धि कर देने के कल्पित नामधारी बहुत से पदार्थ, मनुष्य जाति पर अनेक प्रकार की नयी तकलीफें खड़ी करते हैं, वे अटक जाती है क्योंकि इस प्रकार से उत्पन्न होने वाला अधिक माल खपाने के लिये आमने सामने देशों में प्रति

स्पर्धा जागती है और युद्ध के भयंकर वातवरण में मनुष्य जाति ऐसी फंस जाती है कि जिसमें से उबरना उसके लिये असंभव हो जाता है ।

जीव रक्षा के विशुद्ध परिणामों से किये जाने वाले आजीविकादि हेतु भी होने वाले महारंभो का त्याग इत्यादि मनुष्य जाति के सुख और शान्ति में वृद्धि करने वाले हैं; जबकि उसके अतिरिक्त के उपाय निरर्थक आपत्तियों को खींच लाकर मनुष्य जाति को विनाश के मार्ग पर ले जाने वाले हैं। आज हम देख सकते हैं कि, अभक्ष्य भक्षण के त्याग के जैसे, श्री जैन शासन के इस आदेश को भी प्रेम से अपनाने वाले अनेक गुणवान मनुष्य हैं, जो कि स्वयं एक या दूसरी प्रकार से सुख और शान्ति प्राप्त कर सकते हैं, और जगत के अन्य मनुष्यों तथा प्राणियों को भी सुख और शान्ति की प्राप्ति में निमित्तभूत हो सकते हैं।

त्याग में निर्बलता नहीं

अभक्ष्य भक्षण और महारंभ वाले (जिसमें प्राणियों का घोर [illegible] है) धंधों का त्याग इस प्रकार मनुष्य जाति को अपने ऊपर आ पड़ने वाली निरर्थक आपत्तियों [illegible] शान्ति के वास्तविक मार्ग पर ले जाने

जाता है। मत इसे नहीं मानने वाले वर्ग में से कुछ किसी भी प्रकार का भय या संकोच किये बिना इन दो उत्तम नियमों पर ही दोष लगाते हैं। वे कहते हैं कि "अभक्ष्य के त्याग के उपदेश से ही जैन समाज निर्माल्य निर्बल बनता आ रहा है और महारम्भों से अर्जित होने वाले पाप के डर से ही जैन समाज व्यवसाय विहीन होता आ रहा है।" इस कथन के पीछे तनिक भी विचार विवेक या सभ्यता नहीं। समाज को उन्नत करने की थोड़ी भी आन्तरिक लगन और विचार विवेक यदि अन्त रण में हो, तो उपर्युक्त उद्गार कभी नहीं निकल सकते।

'जैन समाज निर्माल्य है, उसका कारण अभक्ष्य ण का या उसका उपदेश है अथवा जैन समाज रुपये पैसे से निर्धन होता आ रहा है, उसका कारण महारम्भादि का त्याग या उसका उपदेश है' ऐसा कहना न्याय की दृष्टि से सर्वथा अनुचित है। अभक्ष्य भक्षण का त्याग नये उत्पन्न होने वाले रोगों को रोकने वाला है तथा सत्त्वगुण को बढ़ाने वाला है और महारम ादि का त्याग भी मनुष्य और इतर प्राणी जाति ा विनाश रोक कर जीव दया की लगन को विकसित ने वाला है, इसके साथ ही जैन समाज के अप-

पतन को जोड देना, यह तो उपकारक वस्तुओं का ही द्रोह है।

श्री जैन समाज की निर्माल्यता या निर्धनता के कारण के रूप में उसके उत्तम कोटि के आचारों या उपदेशों की कल्पना करना आरोपित करना सर्वथा अनुचित है। इस कल्पना के पीछे त्याग अर्थात् त्याग के उपदेशक धर्म के प्रति अरुचि विद्यमान है।

धर्म के लिये थोड़ा भी त्याग मनुष्य को अप्रिय हो जाता है। अभक्ष्य भक्षण आदि महादोषों का धर्म के लिये त्याग करने का उपदेश ऐसे ही किसी कारण से अमुक प्रकार के शिक्षा वाले आत्माओं को खटकता है। इन्हीं पदार्थों का या इन्हीं में से किसी भी एक पदार्थ का त्याग करने का कोई वैज्ञानिक शोधक या अमेरिकन डाक्टर कहे और ऐसा न करने से अनेक प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक हानियां बताये, तो सारे सुनने को तत्पर हो जाते हैं और इसी के अनुसार पालन करना चाहिये, ऐसा भी कहने लग जाते हैं।

धीरज, ब्रह्मचर्य और अनन्त ज्ञान आदि के साधन से ज्ञान द्वारा शारीरिक और मानसिक हानियों को भी स्वयं सहता कि इस साधन से ज्ञानी हानियों को सहन करते हैं और वे इस उत्तम साधन द्वारा सब मनुष्यों को ... के लिए नहीं तो भी उनके कथनों को मानकर उनका अवश्य स्वागत किया जायगा परन्तु उस समय यह स्वागत केवल आरोग्यादि इह लौकिक हेतुओं के लिए होगा जिससे ब्रह्मचर्य ब्रह्मचर्यादि का पालन करने के द्वारा जो विशिष्ट प्रकार का आत्मिक लाभ मिलने वाला था, वह भाग्य में रहता गया ? तथा मनुष्य की दया की लगन को नव पल्लवित करके उसे उत्तरोत्तर उच्च कोटि में पहुंचाने का ज्ञानियों का जो ध्येय था, वह भी पार पड़ेगा क्या ? यह विचारणीय है।

इससे एक दूसरी बात यह सिद्ध होती है कि वैज्ञानिकों की शोधक दृष्टि लोगों पर अधिक प्रभाव डालती है और ज्ञानियों की 'ज्ञानदृष्टि' मात्र श्रद्धा पर ही निर्भर होने से मनुष्य को आकर्षित नहीं कर सकती।' परन्तु यह बात सत्य नहीं है। वैज्ञानिकों की शोधकदृष्टि से भी ज्ञानियों की 'शुद्धदृष्टि' अधिक उपकारक है तथापि इसके प्रति लोगों का आकर्षण नहीं, इसका हेतु लोगों में धर्मरुचि का अभाव है। धर्म के निमित्त थोड़ा सा भी त्याग लोगों को

अरुचिकर है जब कि शरीरादि इहलौकिक पदार्थों के लिये बलि हो जाने की बात से भी लोगों को घबराहट नहीं है। इस प्रकार का रुचिभेद यही वैज्ञानिकों के प्रति आदर और ज्ञानियों के प्रति अनादर होने का कारण है।

इहलौकिक और पारलौकिक हित

इस प्रकार का रुचिभेद आज का नहीं परन्तु अनादि काल का है। अर्थ और काम के लिये मनुष्य सर्व प्रकार के त्याग का आचरण करता है; देश को छोड़ता है, गांव को छोडता है और घर को भी छोडता है; कुटुम्ब को छोडता है, परिवार को छोडता है और धर्म को भी छोडता है।

धर्म के लिये इन सबका भोग छोडने वाला तो कोई विरला ही निकलता है। धर्म के पीछे पारलौकिक हित संकलित है, जो परोक्ष है तथा अर्थ और काम के पीछे इहलौकिक हित संकलित है, जो प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष के लिये परोक्ष का भोग छोडना सुगम है। जब कि परोक्ष के लिये प्रत्यक्ष का भोग छोडना स्वाभाविक रूप से ही दुष्कर है।

पहुँचे भी तो परलोक के विषय में अनेक प्रकार के वाद विवाद होने से एक बात पर स्थिर नहीं हो सकती, परन्तु परलोक संबंधी श्री जैन शासन द्वारा दर्शाया हुआ मार्ग इतना सुनिश्चित है कि वह जिस प्रकार होता है उसका परलोक संबंधी सारा विवाद मिट जाता है। उसे इस लोक से भी परलोक अधिक महत्व का लगता है और वह कैसा है, इत्यादि का सुनिश्चित ज्ञान, ज्ञानियों के वचनबल से, उसके अंतर में स्पष्टरूप से अंकित हो जाता है।

श्री जिन कथित मार्ग को प्राप्त आत्माओं को यही एक विशेष लाभ है कि दूसरों की अपेक्षा वे अपने परलोक को सुधारने के लिये अधिक जाग्रत और सावधान रहते हैं अर्थात् इहलौकिक सुख के भोग से भी वे अपने परलोक को सुधारने का प्रयत्न करते हैं।

ज्ञानदृष्टि और वैज्ञानिक दृष्टि

किसी भी प्रकार की इहलौकिक कामनाओं के बिना, केवल परलोक के निमित्त ही, उत्तम कोटि के त्याग का आचरण करती हुई प्रजा में जैन जाति का नम्बर शीर्षस्थ [illegible]य वैसा है। उसका कारण उस प्राप्त हुआ परलोक विषयक ठोस और श्रद्धेय ज्ञान है। आज वैज्ञानिकों की ओर [illegible]ी हुई दृष्टि और ज्ञानियों के प्रति आई हुई उपेक्षा,

धर्म में रुचि के अभाव से ही जन्मी हुई है। ज्ञान के प्रति प्रेम मनुष्य को आज भी जितना आकर्षित ज्ञानियों के परिमाण में अल्प किन्तु सुनिश्चित विद्यमान वचनों के प्रति कर सकता है, उसका एक अंश भी वैज्ञानिकों के विशाल किन्तु अनिश्चित और सन्दिग्ध वचनों के प्रति कर सके वैसा नहीं है। वैज्ञानिकों का सार संदिग्ध और अनिश्चित है। उनकी दृष्टि दूसरे सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा दूर पहुँची हुई भी हो। फिर भी अनन्त जगत की दृष्टि से तो उनका ज्ञान एक बिन्दु जितना भी नहीं होता, यह बात उनके ही वचनों से सुसिद्ध है।

वर्तमान वैज्ञानिकों में सर आइज़क न्यूटन का नाम सबसे प्रसिद्ध है गुरुत्वाकर्षण के आदि शोधक के रूप में वे प्रख्यात हैं। वर्डस्वर्थ जैसे कवियों ने उनकी प्रशंसा

का प्रयास मत किया होता पर त भी वे अनन्त महासागर की तो मैं स्पर्श भी नहीं कर सका।

ऐसा कहा जाता है कि सर आइजक न्यूटन जब प्रकृति के रहस्यों की शोध में लगते थे तब जो नए नए अवसर सामने उनकी दृष्टि के समक्ष उपस्थित होते जिस को देखकर इतनी अपार अनन्तता उस ओर उनके मस्तिष्क को चक्कर में डालती कि वह विस्मित हो इन अदृश्य रहस्यों में मग्न हो जाते और अपने अद्भुत प्रयासों को छोड़ देते थे। दूसरे शब्दों में प्रकृति के रहस्यों की अमर्यादित शक्यताओं सम्भावनाओं को स्वीकृत करने जितना उनका मन बलवान नहीं था। इसी बात को सादे शब्दों में यूं कहा जा सकता है कि उनका ज्ञान प्रकृति के रहस्यों को समझने में निपट असमर्थ था। यह तो बड़े से बड़े वैज्ञानिक की बात हुई। अर्वाचीन दूसरे वैज्ञानिकों ने जो कुछ भी शोध की है वे अधिकांश सर आइजक न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की स्थापना होने के पश्चात् ही। इन शोधों को सामान्य मनुष्य की अपेक्षा से चाहे जितनी बड़ी मानी जाती हो तो भी अनन्त जगत की दृष्टि और इस अनन्त जगत को जानने वाले ज्ञानियों की दृष्टि से तो एक बिन्दु मात्र भी नहीं, इस बात का इन्कार किसी से भी नहीं किया जा सकता।

वैज्ञानिक और उनके शोध इस प्रकार जब सत्य का एक अंश भी पूर्णतया नहीं शोध सके तब उनको ही आधार मान कर जीवन की समस्त प्रवृतियों को अपनाने के लिये तैयार होना, क्या दुस्साहस नहीं ?

सच्ची बात यह है कि लोक भौतिक पदार्थों को पहचानते हैं, उनसे होते और होने वाले सुखों को पहचानते हैं और वे किसी भी उपाय से मिलते हों तो उनके शोधकों को हार्दिक अभिनन्दन देते हैं। इस प्रकार की इहलौकिक सुख भोग की तीव्र लालसा ही ज्ञानियों के सत्य, सुमंगल एवं न्याययुक्त वचनों के प्रति भी अनादर का कारण बनती है।

चढ़ सके, यह मानना योग्य नहीं है। इसी कारण ही इस प्रकार की श्रद्धा प्राप्त करने के लिये उत्तम आत्माएँ कभी भी नाखुश नहीं होतीं। जगत के व्यवहार में भी जब अपूर्ण ज्ञानी और अशुद्ध आत्माएँ प्रति श्रद्धा रख कर ही चलना पड़ता है, तो कौन ऐसा मूर्ख होगा जो सम्पूर्ण ज्ञानी और परिशुद्ध अन्तःकरण वाले महापुरुषों के वचनों पर श्रद्धा रखने में आनाकानी करे ?

सम्पूर्ण और शुद्ध के नाम से असम्पूर्ण और अशुद्ध आत्मा भी अपनी जाति को परिचित कराते हैं और इसीलिये यदि सच्चे ज्ञानी भी अनादरणीय ठहराये जायँ तो इस नियम का इस जगत में किसी भी स्थान पर अपवाद नहीं ।

साधु धर्म और श्रावक धर्म

श्री जैन शासन द्वारा दर्शाया गया मार्ग दो भागों में बंट जाता है, एक साधु धर्म और दूसरा गृहस्थ धर्म। ये दोनों प्रकार के मार्ग एक दूसरे से संकलित हैं। दोनों मार्गों के पीछे एक ही तत्त्वज्ञान है, एक ही आदर्श है, दोनों का एक ही ध्येय है। पालन करने की शक्ति के भेद से दोनों में भेद किया गया है, परन्तु जानने, मानने अथवा श्रद्धा करने की दृष्टि से दोनों मार्गों में रत्तिक भी अन्तर नहीं। साधु भी मुक्ति के लिये ही साधुत्व का पालन करते हैं और श्रावक भी मुक्ति के लिये ही श्रावकत्व का पालन करते हैं। अन्तर इतना ही है कि, साधुत्व मुक्ति का साक्षात साधन है जब कि श्रावकत्व मुक्ति

महापुरुषों ने भी पूरी पूरी रखी है । कुगुरुओं की जाति सुगुरुओं के नाम से न पूजी जाये, इसके लिये पासत्थादि कुगुरुओं के लक्षण बता कर इन महापुरुषों ने कहा है कि, ऐसे कुगुरु अवन्दनीय हैं, इनकी वंदना करने से कीर्ति भी नहीं और निर्जरा भी नहीं। अवन्दनीय का वन्दन करने से केवल कायक्लेश, कर्मबन्धन और श्री जिनाज्ञा का भंग इन तीन के अतिरिक्त दूसरा कोई विशिष्ट फल नहीं। ऐसे पासत्था (बिना कारण एक ही स्थान पर रहने वाले) उस्सन्ना (चारित्र की क्रियाओं में शिथिल बने हुए) कुशीलिया (चारित्र से विरुद्ध वर्ताव करने वाले) संसत्ता (स्त्री आदि का अतिशय परिचय करने वाले) और यथाच्छंदा (सिद्धान्त से भ्रष्ट होकर इच्छानुसार वर्तन करने वाले) यदि साधु को गुरु की भांति वंदन करवाते हैं तो वे भी कर्म बंधन कर भवान्तर में घोर दुर्गति को प्राप्त करते हैं।

प्रशंसा करते हैं, तथा भ्रष्टाचारियों की भी सेवा और उपासना करते हैं, वे जानबूझ कर विरोधकों की विराधना और भ्रष्टाचारियों के प्रमादों का अनुमोदन कर, कुसाधुओं की संख्या में वृद्धि करने वाले होते हैं।

खुगुरु की निन्दा करना त्याज्य है

इसी प्रकार जो श्री जिनाज्ञा के प्रतिपालक हैं, देश, काल, मति, संहनन, वीर्य और यथाशक्ति संयम का आचरण करने वाले हैं, शक्य आचारों का पालन और अशक्य आचारों के प्रति श्रद्धा रखने वाले हैं, उनके साथ जो ईर्ष्या रखते हैं तथा किसी भी प्रकार की ऐहिक स्वार्थों की पूर्ति उनकी तरफ से नहीं होती इस कारण जो लोग उन्हें धिक्कारते हैं अथवा उनके उत्तम प्रकार के

घाती है, उसी प्रकार तत्त्व का गुरुष की आराधना भी मरप धर्म का नाश करने वाली है। तत्त्व की आराधना सब की आराधना और तत्त्व की विराधना सब की विराधना, यह एक सिद्धान्त है।

श्रावक का लक्षण

श्रावक का अर्थ परम पुरुष परम ज्ञानी पुरुष बताते हैं कि, सम्यग दर्शन आदि सहित अणुव्रतोंमी और शिक्षाव्रतों आदि को धारण करने वाली जो आत्मा प्रतिदिन साधुजनों के पास साधु और श्रावक सबधी सामाचारी (अर्थात् निरन्तर आचरण योग्य शिष्ट पुरुषों द्वारा आचरित क्रिया कलाप) को सुनती है, उस आत्मा को श्री तीर्थंकर गणधरादि महापुरुष श्रावक कहते हैं। 'शृणोतीति श्रावक । सुने वह श्रावक।' परन्तु क्या सुने? उसका स्पष्टीकरण न किया जाय तो श्रवणे न्द्रिय के धारक सभी आत्मा श्रावक बन जायें। इस कारण साधु मुख से साधु और श्रावक सम्बन्धी सामाचारी का निरन्तर श्रवण करे वह श्रावक, ऐसा स्पष्टीकरण करना पड़ा है। साधु और श्रावक सबंधी उत्तम सामाचारी का निरन्तर श्रवण करे वह श्रावक इतना ही लक्षण नहीं होते हुए 'सम्यग् दर्शन आदि को प्राप्त आत्मा साधु और श्रावक सबंधी सामाचारी को साधु मुख से सुने वह श्रावक।, ये

लक्षण बताने से मिथ्यादृष्टि आत्मा साधु मुख से साधु और श्रावक संबंधी सामाचारी सुने तो भी श्रावक नहीं, यह निश्चित होता है यह लक्षण स्वबुद्धि द्वारा कल्पित नहीं, किन्तु श्री तीर्थंकर गणधरादि महापुरुषो का कहा हुआ है, जिससे परम श्रद्धेय हैं।

श्रद्धा और अनुष्ठान का मूल श्रवण

नित्य गुरु मुख से धर्म श्रवण करने से नवीन नवीन संवेग, अन्तःकरण की आर्द्रता, संसार के प्रति उदासीनता और मोक्ष के प्रति तीव्र अभिलाषा उत्पन्न होती है। संवेगादि से सम्यग्ज्ञान को आवृत्त करने वाले कर्मों का अधिक क्षयो·

धन, स्वजन और शरीरादि की ममता में पड़ कर जो आत्मायें श्री जिन वचन के श्रवण का तिरस्कार करती हैं, वे आत्मायें तुच्छ से काँच के टुकड़े के लिए चिन्तामणि रत्न को फेंक देती हैं अथवा धतूरा उगाने के लिए कल्प वृक्ष को उखाड़ फेंकती हैं अथवा गधे को खरीदने के लिए हाथी को बेच देती हैं। धन मनुष्य में मोह उत्पन्न करता है, परन्तु यह मोह अधिकांशतः निष्कारण कष्ट और निरर्थक चिन्ताओं को खड़ी करता है। स्वजनों का स्नेह धर्म के प्रति उपेक्षावृत्ति जगाता है और परिणामतः ये ही स्वजन द्वेष और कलह का कारण बन जाते हैं और शरीर तो अशाश्वत तथा प्रतिक्षण विनश्वर है यह सबके अनुभव की बात है, फिर ऐसे क्षणिक अशाश्वत और क्लेश के ही एक कारणभूत शरीर, धन और स्वजनादि के निमित्त श्री जिन वचन के श्रवण से क्यों दूर रहें ? इतना विवेक प्राप्त आत्मा साधु गुरु से प्रतिदिन उत्तम सामाचारी सुनने को उत्सुक रहता है तथा इस श्रवण के लिये एक भी प्रसंग को जहाँ तक सम्भव हो निष्फल नहीं जाने देता।

श्रावक के मुख्य आचार

श्रावक का यह लक्षण ही इसके आचार को सूचित कर देता है। सामाचारी का श्रवण करने

साधु और श्रावक सम्बन्धी जितने आचार हैं, उनमें अतिशय कुशल होता है तथा यह कुशलता उसे प्रतिदिन अधिकाधिक व्रत-नियम में आगे बढ़ाने वाली होती है । अभक्ष्य भक्षण का त्याग और अतिआरंभ वाले पाप के धंधों से विराम, श्रावक के प्राथमिक आचार हैं । त्रिकाल श्री जिन-पूजन, उभयकाल आवश्यक (प्रतिक्रमण) नित्य सद्गुरु-वन्दन, सद्गुरु मुख से श्री जिन वचन का श्रवण, सामायिक, पौषध, देशावकाशिकादि (साधु धर्म के अभ्यास रूप) शिक्षा व्रतों का आचरण, दिशिपरिमाण, भोगोपभोग परिमाण तथा अनर्थदंड विरमणादि गुण व्रतों का पालन, बड़ी

'उनमें कुछ नहीं' ऐसा मानने और कहने वाले बन गये हैं, वे आत्माएँ भी इन आधारों की महिमा को भली प्रकार समझ तथा पहिचान कर, ऐसा मानें कि इनके समान कोई उत्तम आधार इस जगत में नहीं ऐसी श्रद्धा पूर्वक वे भी इनका आदर करें, ऐसी इच्छा करते हैं।

जगत शान्ति और लोक कल्याणार्थी आत्माओं को अंत में भी श्रावक जीवन के आधारों को एक या दूसरे रूप में अपनाये बिना शान्ति अथवा सच्चा कल्याण संभव नहीं। लोक कल्याण या जगत शान्ति के नाम पर आज जो प्रयास हो रहे हैं उनके साथ श्रावक जीवन के आधारों की घड़ी भर तुलना की जाये तो इस बात पर प्रत्येक को श्रद्धा उत्पन्न हो सके ऐसा है।

उत्तम विचारों का पान जन्म घुटी में

और यह श्रावक-जीवन यदि अपनाने योग्य लगे तो ऐसा जीवन जीने के लिए प्रोत्साहन देने वाले जो विचार हैं, उन्हें भी अपनाने ही चाहिये। आज दुष्कर समझे जाते साधु जीवन अथवा श्रावक जीवन का जो थोड़ा बहुत भी आचरण इस जगत में हो रहा है तो उसमें भी इसके पीछे स्थित उत्तमोत्तम विचारों का प्राबल्य ही परम निमित्त है। ये विचार इतने निश्चित हैं कि इसके

विचारकों को वे विचार दूसरी आत्माओं को दुष्कर लगने वाले अनुष्ठानों को भी सुकर बनाने का बल प्रदान करते हैं। जड़वाद के हजारों विद्वान आज तक लाखों पुस्तकें लिख कर जो विचार निश्चित नहीं कर सके, वैसे उत्तम और कल्याण साधक विचारों का पान श्रावक कुल में उत्पन्न हुई आत्माओं को जन्म घुट्टी से ही करने का सद्भाग्य प्राप्त होता है।

पा थी सर्वज्ञ शासन में तत्त्व बालक बाल्यावस्था से ही जानते समझने और आचरण करते हैं।

आत्मा और परलोक आदि सर्वथा अगम्य प्रकार के अनुमान आप तक लगाते हुए भी अभी तक जिनका निर्णय जड़वादी पहिले अथवा इतर अध्यात्मवादियों द्वारा भी नहीं हो सका, वे पदार्थ कैसे हैं उनका निश्चित बोध आरक कुल में उत्पन्न हुए बालक बालिकाओं को बाल्यावस्था से ही प्राप्त करने का अवसर मिलता है। परलोक और विश्व कैसा है तथा उसकी व्यवस्था किस प्रकार हो रही है, इसका ज्ञान इतने इतने प्रयत्नों के परिणाम से जिन वैज्ञानिकों को अभी तक नहीं हो सका है, उस परलोक और विश्व का समस्त स्वरूप और उसकी सारी व्यवस्था कैसी है तथा किस प्रकार हो रही है, इसका निश्चित बोध भी जिन वचन की श्रद्धालु आत्मा थोड़े से परिश्रम से ही कर सकती है। अस्तु, सुकरात या प्लेटो जैसे तत्त्वज्ञानी जिन तत्त्वों को अन्तिमरूप से बोध करने में निष्फल सिद्ध हुए हैं और इनके पश्चात् के पदार्थ वेत्ता जो अनन्त की गहनता का स्पर्श कर सकने में भी अपनी असमर्थता प्रकट कर गये हैं, उन तत्त्वों का निश्चित ज्ञान भी जिन वचन से उसकी श्रद्धालु आत्मा सहज में प्राप्त कर सकती है तथा यह ज्ञान इसे इसकी आत्मा की प्रगति में अपूर्व सहायक सिद्ध होता है।

अच्छी नहीं माननी या उस पर श्रद्धा नहीं रखनी और पाश्चात्य पंडित अथवा विज्ञान वेत्ताओं द्वारा बखानी हुई बात अपूर्ण से अपूर्ण कोटि की हो तो भी उसे सम्पूर्ण की भांति स्वीकार कर लेनी । पाश्चात्य पंडितों की दृष्टि से वस्तुओं की उत्तमता अथवा अधमता को आँकने की अपनी यह बौद्धिक पराधीनता मिटनी ही चाहिये । यह यदि नहीं मिटनी तो तनिक भी आत्मिक उद्धार की बात अशक्य है क्योंकि पाश्चात्य पंडित आधिभौतिक विषयों में चाहे कितने आगे बढ़ गये हों, तो भी आध्यात्मिक विषयों में तो धर्म के नौसिखियों की अपेक्षा भी वे निम्न कोटि के हैं ।

श्रद्धा

कुछ लोगों में आज कल इस प्रकार की मान्यता फैल गई है कि 'अक्षर ज्ञान का न धारण करने वाली आत्मायें चाहे जितनी धर्म क्रियायें करें तो भी उनका वह अज्ञान कष्ट है, हैं परन्तु यह मान्यता त्रुटिपूर्ण है। चाहे जितना अक्षर ज्ञान धारण किया जाए यावत् चौदह पूर्व पर्यंत का श्रुत ज्ञान स्वाधीन कर लिया जाय तो भी उस ज्ञान का योग केवलज्ञान के मात्र अनन्तवें भाग जितना ही है। यह सारा ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान का अनन्तवां भाग ही है अतः उस मत से तो चतुर्दश पूर्वधरों की क्रिया को भी कष्ट क्रिया ही माननी पड़ेगी। 'भले सम्पूर्ण ज्ञान न हो परन्तु थोड़ा ज्ञान तो होना चाहिये न? तो यह बात उचित है, परन्तु धर्माचरण करने वाले अज्ञानी में अज्ञानी भी थोड़ा ज्ञान अवश्य रखता है। यदि ऐसा भी न हो, तो परलोक के नाम पर कष्ट कैसे झेला जा सके? अतः यह कष्ट अज्ञान कष्ट है, ऐसा कह कर इसकी उपेक्षा नहीं हो सकती।

अज्ञान का अर्थ विशिष्ट श्रुतज्ञान का अभाव किया जाय तो तो ठीक है परन्तु अज्ञान का अर्थ सर्वथा ज्ञान रहितता किया जाये तो वह सत्य नहीं क्योंकि अक्षर

ज्ञान को प्राप्त न की हुई आत्मायें भी मति श्रुतज्ञान को धारण करने वाली होती हैं तथा उसमें भी अनन्त ज्ञानियों के कथन के प्रति श्रद्धालु आत्मा का तनिक भी मति श्रुतज्ञान आत्मिक मार्ग में बहुत ही कार्यसाधक होता है। वैसे अल्पाल्प मति-श्रुतज्ञान की भी ज्ञानियों ने यदि वह श्रद्धा युक्त हो तो प्रशंसा की है। अनन्त ज्ञानियों और उनके कथनों के प्रति अन्तरंग श्रद्धा यही अल्प ज्ञानी आत्माओं की बड़े से बड़ी निधि है। महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज श्री वीतराग की स्तवना करते हुए एक स्थान पर कहते हैं—

इतने दिन तू नाहीं पीछाण्यो,
मेरो जन्म गमायो अजान में,
अब तो अधिकारी होई बैठे,
प्रभु गुन अखय खजान में,
इम मगन भये प्रभु ध्यान में १.

सकता है। यह लाभ उठाने के लिये उसे पिता जितना ज्ञानी बनने की आवश्यकता नहीं रहती किन्तु उसको तो पिता के प्रति श्रद्धा ही रखनी होती है। इस श्रद्धा से ही पिता के अनुभव का लाभ पुत्र अपने लिये प्राप्त कर सकता है। श्रद्धा के बल पर पिता की आज्ञानुसार आचरण करने से अनेक प्रकार की हानियों से वह बच सकता है तथा अनेक प्रकार के लाभों को वह प्राप्त कर सकता है। इसी रीति से अनन्त ज्ञानियों के प्रति माता और पिता की भी अपेक्षा अधिक श्रद्धालु बनी हुई आत्मायें अनन्त ज्ञानियों के समस्त ज्ञान का उपयोग कर सकती है।

इस ज्ञान के ऊपर की श्रद्धा के बल से, उनकी आज्ञानुसार वर्तन करने से संसार में अवश्यंभावी आपत्तियों से श्रद्धालु जीव उबर जाता है और नित्य नयी नयी सम्पत्ति तथा सद्गति को प्राप्त करता है। यह श्रद्धा का प्रताप है। अपने ज्ञान का नहीं। अनन्त ज्ञानियों के ऊपर श्रद्धा ही अल्पज्ञ आत्माओं के लिये ज्ञान गुण अथवा किसी अन्य गुण की प्राप्ति का सच्चा उपाय है। यह श्रद्धा अल्प ज्ञानी और अल्प गुणी आत्मा को भी सम्पूर्ण ज्ञान और समस्त गुणों की अधिकारी बनाने वाली होती है।

श्रद्धा के इस मूल्य को समझ सकने वाले कभी ऐसा नहीं कह सकते कि, 'अक्षर ज्ञान विहीन श्रद्धालु आत्माओं

की धर्म क्रियायें निरर्थक हैं अथवा किसी गुण को प्राप्त कराने वाली नहीं।' श्रद्धालु आत्माओं की श्रद्धा गुण प्राप्ति में परम सहायक है। इससे ज्ञान की आवश्यकता नहीं यह नहीं परन्तु सच्ची श्रद्धा के पश्चात ज्ञान अवश्य होता है। मात्र इस श्रद्धा की उत्पत्ति के लिये जो ज्ञान चाहिये, वही श्रद्धा से पहले आवश्यक है और श्रद्धा हो उतना ज्ञान तो सभी धर्म क्रियाओं का आचरण करने वालों में अवश्य होता है।

ऐसा उपचार से छुड़ा जा सकता है क्योंकि ज्ञान इन
को ज्ञान नहीं परन्तु मनुष्यों के सैकड़ों प्रयत्नों से भी
शील से च्युत नहीं होतीं ऐसी जो स्त्रियाँ आज भी
विद्यमान हैं और जिन्हें अक्षर ज्ञान नहीं इसीलिए उनका
पाला हुआ शील क्या व्यर्थ और गलत है ? नहीं।
पतिव्रता स्त्रियों के इस शील को व्यर्थ या खोटा किसी
से नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनमें इतना ज्ञान
तो अवश्य रहा है कि 'इस शील को मैं न पालूं
तो भवोभव वैधव्य मिले। एक भव के भी शील खण्डन
से अनेक भव बिगड़ते हैं। पूर्व जन्मों में किये हुए शील
भंग के दोष से ही इस भव में वैधव्य आता है तथा इस
भव में भी इस पापी शरीर से क्षणिक सुख के लालच
से शील को भंग करूं तो जन्म जन्मान्तर में मेरा होगा
क्या ? यह क्या कम ज्ञान है ? यह क्या कम विवेक है ?

शिक्षण और सद्गुण

इस प्रकार निरक्षर गिने जाते मनुष्यों में भी पाप
का डर भव से भीरुता, आत्महित की चिन्ता, दुर्गति
गमन का भय, गुण का आदर, परमात्मतत्त्व के प्रति प्रेम
इत्यादि वृत्तियाँ रहती हैं। ये वृत्तियाँ न हों तो जो
दया, दान, शील, तप, भक्ति आदि असंख्य प्रवृत्तियाँ

प्रचलित हैं वे किस प्रकार सम्भव हैं ? इन प्रवृत्तियों को अज्ञान कह कर निंदित करना पढ़े हुए या समझदारों के लिये उचित नहीं । आगे बढ़ कर कहें तो जो समझ या पढ़ाई पाप या दुर्गति का भय उत्पन्न नहीं करती, आत्मा या परलोक की चिन्ता नहीं होने देती, गुणों के प्रति राग या दुर्गुणों के प्रति द्वेष नहीं उत्पन्न करती वह समझ वह पढ़ाई अज्ञान या स्वार्थी आत्माओं द्वारा चाहे जितनी प्रशंसा प्राप्त करती हो तो भी वास्तविक समझ या वास्तविक पढ़ाई कहलाने योग्य नहीं उल्टा सामने वाले पक्ष में अक्षर ज्ञान या उस प्रकार किसी भी विशेषता के बिना आत्मा को प्राप्त हुई पाप भीरुता आदि सद्गुण जहाँ होते हैं वहाँ पढ़ाई का फल विद्यमान ही है क्योंकि यही शिक्षा का सच्चा फल है ।

अनावश्यक है। यह शिक्षण तो अतिशय आवश्यक है किन्तु इससे विपरीत परिणाम उत्पन्न शिक्षण प्रशंसनीय नहीं। सद्गुणों की वृद्धि में शिक्षण सहायक है इसका अर्थ यह नहीं होता कि शिक्षण मात्र सहायक है। यहाँ भी सुशिक्षण और कुशिक्षण का विवेक विद्यमान है ही जिसमें कुशिक्षण का त्याग और सुशिक्षण का स्वीकार यही कर्तव्य है।

पापभी रुतादि गुणों और आत्महित आदि की चिन्ता में से उत्पन्न हुई मनोवृत्तियाँ अपराज्ञान में से न होने पर भी अन्य प्रकार के सम्यग्ज्ञान में से ही जन्मी हुई हैं, जिससे उपादेय हैं। और पापभीरुता आदि सद्गुणों के प्रति द्वेष या उपेक्षा अपर ज्ञान में से जन्मी हुई हो तो भी वह त्याज्य ठहरती है। उसमें भी जब इस प्रकार का अज्ञाज्ञान स्वाभाविक सद्गुणों में से उत्पन्न हुए उत्तम आचरणों को महत्त्वहीन करने के काम में प्रयुक्त हो तो वह अतिशय वर्ज्य होता है।

संसार की असारतारूपी उत्तम विचार

जैन जगत में प्रचलित आत्मोन्नति साधक उत्तमोत्तम विचारों में से सर्व प्रथम और मुख्य विचार यह है कि 'यह चतुर्गति रूप संसार असार है।' इस विचार की जड़ें इतनी

गति में जन्म जरा मरण, इष्ट वियोग, अनिष्टसंयोग क्षुधा, पिपासा, रोग, शोक आदि भयंकर उपद्रव मुंह फाड़े जगत को ग्रसित करने के लिये बैठ रहते हैं। उनके त्रास से कोई भी बच नहीं सकता। राजा से रंक तथा इन्द्र से कीट तक सब को उन सब का त्रास म दीन बन कर भुगतना ही पड़ता है।

मानस शास्त्र के अभ्यासी आज मानसिक प्रयोगों द्वारा मनुष्य जाति के सुख, शांति और उन्नति साधन के प्रयास कर रहे हैं, ऐसे अवसर पर बिना किसी भी प्रकार के आडम्बर के बिना ही जैन शासन मनुष्य जाति की उन्नति का जैसा जितने ही उत्तम विचारों और आचारों को इस जगत में फैलाने का कार्य असंख्य वर्षों से अविरत रूप से कर रहा है, उसे जान कर किसी भी सहृदय आत्मा का हृदय पुलकित हुए बिना नहीं रहेगा।

उत्तम विचारों का दर्शाने वाले वाक्य

जैन शासन कहता है और जैन जगत श्रद्धा पूर्वक स्वीकार करता है कि—

(१) यह जीव अशुचि और बीभत्स गर्भावास में शुभाशुभ कर्म के प्रभाव से अनन्त बार रह चुका है।

(२) जीव की उत्पत्ति के स्थान चौरासी लाख हैं। उन चौरासी लाख योनियों में से एक एक योनि में एक एक जीव अनन्त बार उत्पन्न हुआ है।

(३) बहुत सी योनियों में निवास करते हुए माता, पिता और स्वजनों द्वारा यह लोक भरा हुआ है परन्तु वे किसी जीव को त्राण या शरण रूप नहीं हो सकते।

(४) माता स्त्री बनती है और स्त्री माता होती है। इसी प्रकार पिता पुत्र होता है और पुत्र पिता होता है। कर्मबद्ध आत्माओं के उत्पन्न होने के लिये इस संसार में किसी भी प्रकार का नियम नहीं।

करता है तथा उसके परिणामवश, वध, बन्धन, ताडन, तर्जन, रोग, जरा, मृत्यु आदि भी जन्म जन्मान्तर में अकेला ही सहन करता है। अपने कर्म द्वारा जीव स्वयं ही ठगा जाता है।

(९) आत्मा का हित अथवा अहित अन्य कोई नहीं करता। स्वयं ही स्वयं के कर्मों से उत्पन्न सुख दुःख भोगता है।

(१०) अधिक आरंभ से उपार्जित किए हुए धन इत्यादि का उपभोग स्वजन वर्ग करता है, परन्तु तज्जनित पाप कर्म का उपभोग तो उसे स्वयं ही करना पड़ता है।

(११) इस संसार में जन्तु दुःखों से पिसे जाते हैं। प्राणियों को प्रथम जन्म का दुःख है, फिर जरा अर्थात् वृद्धावस्था का दुःख है, बीच में रोगों का दुःख है और अन्त में मृत्यु का दुःख अवश्य है।

(१२) जब तक इन्द्रियाँ क्षीण नहीं होती, जब तक जरा राक्षसी आकर खड़ी नहीं होती, जहाँ तक रोगों के विकारों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ, जहाँ तक मृत्यु निकट नहीं आ पहुँचा, तब तक यथासम्भव आत्महित साध लेना चाहिये।

(१३) आग लगे तब कुआ खोदना और आग बुझाना यह जैसे असंभव है, वैसे मरण प्राप्त होने पर धर्म

पालन करना और दुर्गति से बचना भी असम्भव है।

(१४) शरीर का रूप अशाश्वत है, शरीर का सौन्दर्य बिजली की चौंध जैसा चंचल है और शरीर का तारुण्य संध्या के रंग के समान क्षण-रमणीय है।

(१५) लक्ष्मी हाथी के कान के समान अस्थिर है तथा विषय सुख इन्द्रधनुष की भांति क्षण-विनाशी हैं अतः इनका विश्वास अनुचित है।

(१६) संध्या काल में पक्षियों का तथा मार्ग में यात्रियों का समागम जिस प्रकार थोड़े समय के लिये है वैसे ही बन्धुओं का संग भी क्षण भंगुर है।

सामान्य हो अथवा जो आत्मा हो कि मुझे मरना है ही नहीं, वही पुरुष यह कह सकता है कि मैं धर्म कल करूंगा ।

(१६) जिस प्रकार सिंह हिरण के बच्चे को गर्दन से पकड़ कर नाश करता है, उसी प्रकार अन्तकाल में मृत्यु पुरुष की गर्दन पकड़ कर अवश्य उसका नाश करती है। उस समय उस पुरुष का उसके माता पिता अथवा भ्राता रक्षण करने में जरा भी समर्थ नहीं होते ।

(२०) जीवन दूर्वा के अग्र भाग पर स्थित जल बिन्दु के समान चपल है। सम्पत्ति समुद्र की तरंग की भांति चपल है तथा स्त्री आदि का स्नेह स्वप्न की भांति मिथ्या है। इस प्रकार उन उन पदार्थों की अस्थिरता जानकर धर्म का आचरण करना, यही सार है ।

(२१) मनुष्य कुश पानी के बुलबुले और नदी के वेग के समान यौवन और जीवन को अस्थिर तथा विनश्वर जानते हुए भी पापी जीव प्रतिबोध प्राप्त नहीं करता ।

(२२) निगोद में यह जीव अनन्त सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्तन काल तक तीक्ष्ण दुःखों को सहन करता रहा है ।

(२३) निगोद से निकल कर मनुष्य भव प्राप्त करना जीव के लिये

मणि रत्न की प्राप्ति की भाँति श्री जिन कथित धर्म को प्राप्त करना वह उससे भी महादुष्कर है।

(२४) जिनकथित धर्म की प्राप्ति के पश्चात् भी प्रमाद आत्मा को बहुत सताता है और पुनः भवरूपी अंधकूप में फेंक देता है।

(२५) श्री जिनधर्म को प्राप्त करके भी जो आत्मा मात्र प्रमाद के दोष से उसका आचरण नहीं करती वह आत्मा स्वयं की हानि करती है और परलोक में अनन्त दुःख प्राप्त करती है।

भी हुआ है, पीट भी हुआ है, पतग भी हुआ है तथा मनुष्य भी हुआ है। मनुष्य म भी गुरुप और कुरूप भी हुआ है, गुणमार्गी हुआ है और दुःखमार्गी भी हुआ है, राजा हुआ है और रङ्क भी हुआ है, पण्डित ब्राह्मण हुआ है और चाण्डाल भी हुआ है, स्वामी हुआ है और दास भी हुआ है, पूज्य हुआ है और अपूज्य भी हुआ है, सज्जन हुआ है और दुर्जन भी हुआ है, धनपति हुआ है और निर्धन भी हुआ है। अपने कर्म के अनुसार चेष्टा करते हुए यह जीव नट की भाँति भिन्न भिन्न रूप और वेश धारण करते हुए बार बार भटका है।

(३०) असाता से व्याप्त रत्नप्रभादि साता नरकों में इस जीव ने अनन्तबार अनेक प्रकार की वेदनायें प्राप्त की हैं।

(३१) देवत्व और मनुष्यत्व में पराधीनता प्राप्त इस आत्मा ने अनन्त बार कई प्रकार के भीषण दुःख अनुभव किये हैं।

(३२) तिर्यच गति प्राप्त कर इस आत्मा ने अनन्त बार जन्म मरणरूपी अरहट में भ्रमण किया है और अनेक प्रकार की भीषण महावेदनायें सही हैं। इस ससार रूपी भवबन म शरीर और मन सबधी जितने दुःख हैं उन्हें इस जीव ने अनन्त बार सहे हैं।

(३३) संसार में अनन्त बार नरकादि गतियों में इस जीव को इतनी तृषा सहन करनी पडी है कि उसे शमित करने के लिये सर्व उदधियों का जल भी समर्थ नहीं हो सकता। इसी प्रकार क्षुधा भी अनन्त बार इतनी सहन की है कि उस क्षुधा के शमन के लिये सर्व पुद्गल स्कंध भी असमर्थ सिद्ध होंगे।

(३४) इस प्रकार सैकड़ों जन्म मरण के परावर्तन करने के बाद भी जीव को अपनी इच्छानुसार कुशलता [illegible] मनुष्यत्व प्राप्त हो सकता है।

(३८) जगत में पिता, पुत्र, मित्र, पर तथा गृहिणी सभी अपने अपने स्वार्थ के स्वभाव वाले हैं । इसके लिए किए गए पापों का परिणाम नरक और नरकादि गति में असह्य दुःखों को सहन करके स्वयं को ही भोगना पड़ता है । उस समय उनमें से कोई शरण देने वाला नहीं होता ।

(३९) बाज पक्षी जिस प्रकार तीतर पक्षी को मारता है, उसी प्रकार आयुष्य का क्षय होने पर यमराज बालक हो या वृद्ध सब किसी को एक पल में झड़प लेता है ।

(४०) तीनों लोक यमराज के वश होते देखने पर भी जिन आत्माओं को धर्म की प्रेरणा नहीं मिलती, उन आत्माओं को धिक्कार है ।

(४१) चिकने कर्मों से भ्रमित आत्मा के लिये हितोपदेश भी महादोष कारक या द्वेष उत्पादक होता है ।

(४२) अनन्त दुःख के कारण भूत धन स्वजनादि पदार्थों और उसके साधनों के प्रति आत्मा की ममता होती है, तथा अनन्त सुख को देने वाले मोक्ष अथवा उसके साधनों के प्रति वैसा आदर नहीं होता, यह जीवन की बहुलकर्मिता को सूचित करता है ।

(४३) तुच्छ वस्तुओं के प्रति स्नेह रूपी बन्धन की बेड़ी में बंधी हुई आत्मा, दुःख स्वरूप, दुःख के फल वाले और दुःख की ही परम्परा देने वाले संसार को छोड़ नहीं सकती।

(४४) संसार रूपी घोर कानन में स्वयं उपार्जित किए हुए कर्म रूपी पवन से थपेड़े खाता हुआ जीव विविध प्रकार के दुःसह दुःखों और घोर विडम्बनाओं को सहता है। संसार रूपी वन में यह जीव प्रत्येक स्थान पर धन और स्वजनों के समूह का त्याग कर आकाश मार्ग में पतङ्ग की भाँति अदृश्य रूप वाला हो कर बार बार भटकता है।

में पतित होकर व दुःखों को अनन्त बार प्राप्त करनी है, अतः मनुष्य भव और श्री जिन धर्म को प्राप्त कर एक क्षण भी प्रमाद करना उचित नहीं।

(४७) अस्थिर मलिन और पराधीन इस शरीर द्वारा स्थिर, निर्मल और स्वाधीन सा धर्म साधा जा सकता है तो अन्य कार्यों में पड़ने से क्या लाभ ?

(४८) मिथ्यात्व में प्रकट अनन्त दोष दिखाई देते हैं परन्तु गुण तो उसमें लेश मात्र भी नहीं तथापि मोह वश अभी बनी हुई आत्मायें उस मिथ्यात्व का ही सेवन करती हैं। सम्यक्त्व में प्रत्यक्ष अनन्त गुण दिखाई देते हैं तथा दोष का लेश भी दिखाई नहीं देता तो भी अज्ञान से अंधे बने हुए जीव श्री जिनेन्द्र भाषित सम्यक्त्व मूल धर्म का सेवन कभी भी नहीं करते।

(४९) विज्ञान और कला में कुशल आत्माएं भी सुदेवादिक और सत्य धर्म की परीक्षा करने के लिये अपनी विद्वता और कला को यदि उपयोग नहीं करता है तो ऐसे विज्ञान और कलाओं की कुशलता लेश मात्र भी प्रशंसनीय नहीं।

(५०) जीवों के लिये जिन धर्म अपूर्व कल्पवृक्ष है, क्योंकि इसके आराधन से इस लोक में शान्ति और परलोक

से स्वर्ग तथा अपवर्ग के सुख रूपी स्वादु फलों की प्राप्ति होती है।

(१७) श्री जिनकथित धर्म सुबंधु है, सुमित्र है और परम गुरु है। मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त आत्मा के लिये श्री जिन धर्म का आराधन उत्तम रथ का काम करता है।

(१८) महा भयंकर भी इस चार गति में व्याप्त अनन्त दुःखों रूपी अग्नि से सुलग रहे इस संसार रूपी कानन में श्री जिनवचन का सेवन ही अमृत बूंद की मनोहर शांति देने वाला है।

(५४) इस और मनुष्य के शरीर गुण पर्याय की दृष्टि से दुःख का हेतु और दुःख के हेतु पर पाप विभिन्न तथा अशाश्वत है। विशद बुद्धि वाले आत्मा इस कारण विषय सुखों का त्याग करती है और शाश्वत गुण के साधन रूपी श्री जिनाज्ञा का आराधन करती है। यह श्री जिनाज्ञा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप की आराधना स्वरूप है।

इस प्रकार के दूसरे भी अनेक उत्तम और प्रेरक विचारों का स्मरण कराने वाले वाक्य यहाँ अवतरित किये जा सकते हैं जिनकी छाया संस्कारी जैन कुलों के घरों की दीवारों पर भी छायी हुई होती है।

जैन कुल में जन्मी हुई आत्माओं को विरासत में ही ये विचार मिले हुए होने से उनका बार बार श्रवण प्राप्त हुआ करता है और इसके प्रताप से पुस्तकों आदि का अभ्यास न कर सकने वाली भी पुण्यवान आत्माओं को उस पर मनन करने का अवसर प्राप्त होता है। ऐसे अवसर बार बार प्राप्त होने से उन विचारों की सत्यता की छुपी छुपी भी प्रतीति होती जाती है और इस प्रतीति के बल पर ही अक्षर ज्ञानियों की अपेक्षा नि-
क्षर [illegible]

समझकर घोर तपश्चरण तथा नियमित धर्म क्रियाओं का पालन कर सकती है। इनके इस आचरण के पीछे श्रद्धा का बल है और इस श्रद्धा के पीछे बार बार सुने और विचारे जाने सुन्दर और सत्य विचारों रूपी सम्यक्ज्ञान का बल छिपा हुआ है।

जिनधर्मविनिर्मुक्तो-
माभूवं चक्रवर्त्यपि ।
स्यां चेटोऽपि दरिद्रोऽपि
जिनधर्माधिवासितः ॥

[illegible] पद को भी मैं नहीं चाहता [illegible] दास व दरिद्र बनूं तो भी मैं [illegible]

श्रावक धर्म

भगवान श्री जिनेश्वर देवों ने दो प्रकार के धर्म का उपदेश दिया है, एक साधु धर्म और दूसरा श्रावक धर्म। साधु धर्म पांच महाव्रतादि के पालन स्वरूप और श्रावक धर्म पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतादि के पालन स्वरूप है।

जिससे निःश्रेयस कल्याण की सिद्धि हो, वह धर्म है। सम्यक्त्वादि आत्म परिणाम ही कल्याण का कारण है उसकी कारणभूत बाह्य चेष्टायें भी कारण में कार्य के उपचार से धर्म व्यपदेश के लिये उचित है।

परलोक हितकारी श्री जिन वचन को जो सम्यक् रूप से और उपयोग पूर्वक सुने वह श्रावक कहा जाता है।

वह श्रवण अति तीव्र कर्म के विगम से होता है

(१) जिन वचन अर्थात् आप्त आगम।

(२) परलोक अर्थात् जन्म जन्मान्तर अथवा दूसरा श्रेष्ठ जन्म।

श्री जिन वचन के आराधन से ही परलोक अनुकूल होता है। जिन वचन दो प्रकार का होता है।

(२) निमित्त शास्त्र, ज्योतिषशास्त्र आदि जो मुख्य रूप से इस लोक के लिये हितकारी हैं तथा गौण रूप से परलोक का भी हित करते हैं ।*

(३) जो साधु-साध्वियों के अनुष्ठान वर्णित हैं वह साक्षात् परलोक का हित करने वाला है ।

नाश। इस नाश के बिना उपर बताई गई विधि से श्रवण करना सभव नहीं।

उपर कह गुण विशेषणो वाला उत्तम श्रावक गिना जाता है। श्रावक शब्द मुख्यत उसी पर लागू होता है और उसे शुक्ल पाक्षिक भी कहा जाता है। जिसका ससार परिभ्रमण काल अर्ध पुद्गल परावर्तन काल से कम होता है, वह शुक्ल पाक्षिक कहा जाता है। उसके अति रिक्त नाम श्रावक, स्थापना श्रावक अथवा द्रव्य श्रावक गिने जाते हैं।

सम्यग्दर्शन

श्रावक धर्म का मूल सम्यक्त्व है जिससे सम्यक्त्व मूल बारह व्रतों को श्रावक धर्म कहा जाता है।

सम्यक्त्व को धर्म वृक्ष का मूल, धर्म पुर का द्वार धर्म प्रासाद का आधार, धर्मामृत का भाजन तथा धर्म गुणों के निधान के रूप में शास्त्रों में वर्णित किया गया है। तत्त्वार्थ श्रद्धा स्वरूप शुद्धात्म अध्यवसाय ही सम्यक्त्व है।

आत्म अध्यवसाय परोक्ष ज्ञानी जैसे छद्मस्थ प्राणियों के लिये अगोचर है। परोक्षज्ञानी छद्मस्थ आत्माओं द्वारा तो उसे उचित प्रवृति के स्वीकार तथा

लौकिक देवों का शास्त्र द्वारा रचन करना, उनकी पुष्पादि द्वारा पूजा करना वस्त्रादि द्वारा उनका सत्कार करना और स्तोत्रादि द्वारा उनका सम्मान करना इत्यादि जिस प्रकार मिथ्यात्व है वैसे ही अपमादि लोकोत्तर देवों के प्रति भी सरागवृत्ति की कल्पना करके लौकिक फल की कामना से उनका वंदन पूजन सत्कार सन्मानादि करना भी मिथ्यात्व है । इस मिथ्यात्व का भी श्रावक को जीवन पर्यंत त्याग करना चाहिये ।

लौकिक तथा लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व की भाँति लौकिक और लोकोत्तर गुरुगत मिथ्यात्व का भी त्याग करना चाहिये । श्री जैन धर्म से बहिर्भूत तापसादि अन्य तीर्थिक गुरुओं के साथ समालाप, परिचय, आज्ञा पालन आदि प्रवृतियों को छोड़ देना चाहिये इतना ही नहीं किन्तु रजोहरणादि लोकोत्तर लिंग को धारण करने वाले पासत्थादि साधुओं का भी वंदन, पूजन, सत्कार, सम्मान आदि नहि करना चाहिये ।

इसके लिये आगम में कहा है कि -

"पासत्थ, ओसन्न, कुशील संसक्त एवं यथाच्छंद ये पाँच प्रकार के साधु भी जिनमत में अवंदनीय हैं ।

पार्श्वस्थ वह है कि जो ज्ञान दर्शन चारित्र के

पास रखे किन्तु उसकी आराधना नहीं करे। इतना ही नहीं किन्तु आधाकर्म शय्यातर पिंड, अभ्याहृत पिंड, (साधु के सामने लाया हुआ) राजपिंड और अग्रपिंडादि का उपयोग करे। [illegible] कुलों में विहार करे तथा मंगडी (जिमण-वार में जाना) इत्यादि दोषों का पोषण करे।

हुए प्रश्न पार्श्व नाग्वशान्ति करते हिंसादि और आस्रव में प्रवृत्त रह, क्योंकि तीन गारव में गृद्ध रह, स्त्रियों और गृहस्थों का संग करे अथवा जब पासत्थादि से मिले तब पासत्थादि जैसा बन और संविग्न के संग में संविग्न जैसा बने।

यथाच्छन्द वह है जो आगम विरुद्ध आचरण और आगम विरुद्ध प्ररूपणा इन दोनों को करता है। आगम से यह हुआ से विपरीत वर्तन करना और विपरीत बोलना, यह इसका लक्षण है। स्वच्छन्द मति से वर्तन करना, गृहस्थों के कार्यों की चिन्ता करना, इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए बार बार गोचरी जाना, सुख स्वास्थ्य (शाता) और विकृति (घी दूध आदि) में आसक्त रहना, गृह निर्माण कराना कुए खुदवाना, वाटिकाएं बनवाना अथवा उसमें भाग लेना, श्रावकों पर कर लगाना, चैत्य का व्यवहार करना इत्यादि सूत्रोक्तोत्तीर्ण का स्वय आचरण करना तथा अन्य के पास आचरण करवाना अथवा आचरण कराने हेतु प्ररूपणा करना यही यति वेषधारी यथाच्छन्दियों की स्थिति गत की प्रवृत्ति है। ऐसे यथाच्छान्दियों के संसर्ग से मिथ्यात्व का प्राप्ति संभव है। अचानक संसर्ग हो जाय तो भी सामर्थ्यवान् [illegible] [illegible] श्रावक को [illegible] सूत्र विरुद्ध

वक्ताओं का खंडन करना चाहिये । शक्ति के अभाव में दोनों कानों में अंगुलियाँ डाल देनी पर उनका श्रवण नहीं करना । ऐसों का वचन सुनने से श्रुत के जानकार साधु को भी मिथ्यात्व की प्राप्ति का संभव है, तो फिर जीवाजीवादि तत्त्वों से अनजान और श्रुतज्ञान से रहित श्रावक के लिये तो कहना ही क्या ? उस प्रकार के आगम के अभ्यास से रहित श्रावक उत्तर देने में असमर्थ है अतः उसे सन्मार्ग से च्युत होने देर नहीं लगती ।

है कि 'अनेक प्रकार की क्रियाओं को कर, वचन धन और भोगों का त्याग करे तथा दुःख को छाती पर धारण कर, तो भी अन्धा व्यक्ति जिस प्रकार शत्रु की सेना को नहीं जीत सकता उसी प्रकार अनेक प्रकार का विरति कर, स्वजन, धन और भोगों का त्याग कर तथा परिषह और उपसर्गों के तीव्र कष्ट सहन कर, तो भी अंध के समान मिथ्यादृष्टि आत्मा की सिद्धि नहीं होती। इसलिए कर्म शत्रु की सेना को जीतने की इच्छा वाले को सम्यग्दर्शन के लिए उद्यम करना चाहिये। ज्ञान, तप अथवा चारित्र सम्यग्दर्शनवान आत्मा के ही सफल हैं दूसरों के निष्फल' यह दर्शनाचार आठ प्रकार का है।

गुणी प्रधान चार आचार

१ निःशंकित—जीवादि तत्वों के विषय में निःशंक।

२ निष्कांक्षित—अन्य धार्मिक मतों की अनाकांक्षा।

३ निर्विचिकित्स—अनुष्ठान के फल में निश्चय वाला।

४ अमूढ दृष्टि—कुतीर्थिकों के विद्या मंत्र चमत्कार आदि देखने पर भी अमोहित मतिवाला।

५ उपबृंहण—गुणवान की स्तुति, प्रशंसादि।

६ स्थिरीकरण—धर्म में अस्थिर को स्थिर करना

७. वात्सल्य साधर्मिकों की आहारादि द्वारा भक्ति करना और वत्सलता दिखानी।

८. प्रभावना—श्री जिन शासन के प्रभाव को प्रकट करना तथा उसका प्रचार करना।

सर्व विषयक और देश विषयक शंका

भगवान श्री अरिहंत प्रणीत धर्माधर्माकाश आदि [illegible] पदार्थों के विषय में मति मंदतादि अ[illegible] [illegible] से सर्व या देश से संशय होना शंका है।

भगवान श्री गणधर देवों ने बाल वृद्ध नारी मन्द और
घाय जेर के लिये उपकारक हो सके इस कारण से सूत्रों
का अर्धमागधी नाम की प्राकृत भाषा में रचे हैं। पुन
यह भाषा अल्पाक्षर और महा अर्थ आदि अनेक गुण
युक्त होने से दूसरी सभी भाषाओं से विशिष्ट है। जिस
प्रकार यह भाषा थोड़े अक्षरों और महा अर्थ से युक्त है
वैसे उस भाषा में रचित आगम सूत्र भी बत्तीस दोषों से
रहित, आठ गुणों से युक्त और शब्द शास्त्र के नियमों
से अलंकृत हैं। तदुपरान्त, उन आगमों में रचित कथन
कष, छेद और ताप की परीक्षा में से शुद्ध हुए कंचन की
भांति शुद्ध हैं। समस्त रत्न जैसे रत्नाकर की उत्पत्ति है
वैसे समस्त सुभाषित, श्री जिनागम की ही उत्पत्ति है।

श्री जिनागम की अद्भुतता का वर्णन करते हुए एक स्थान पर कहा गया है कि—

सुणिउणमणाइनिहणं भूयहियं भूयभावणमणग्घं ।
अमियमजियं महत्थं, महाणुभावं महाविसयं ॥ १ ॥

श्री जिनागम (सूक्ष्म द्रव्यादि को बताने वाला होने से) सुनिपुण है, (द्रव्यार्थ नय से) अनादि निधन है (किसी के लिये पीड़ा कारक नहीं होने से) भूतहित है। सत्य को कहने वाला होने से सद्भूत भावन है, (अविद्यमान मूल्य वाला होने से) अनर्घ्य है, (अनन्त अर्थ-

कांक्षा के दो प्रकार

कांक्षा दो प्रकार की है । 'सांख्यादि सर्व दर्शन मोक्ष के कारण हैं' ऐसा मान कर उन सबकी अभिलाषा करना, सर्वकांक्षा है और उनमें के एकाध दर्शन की अभिलाषा करना देशकांक्षा है ।

'सर्व दर्शनों में अहिंसा, सुकृत दुष्कृत का फल तथा स्वर्ग मोक्षादि का वर्णन समान है, जिससे सर्व दर्शन मोक्ष के अंग हैं' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है परन्तु नय दुर्नय के स्वरूप को समझने से यह कांक्षा नष्ट होती है । दूसरे दर्शन एक एक नय की मान्यता को आगे रख कर उत्पन्न हुए हैं और अपने से भिन्न मान्यताओं का तिरस्कार कर रहे हैं, जिससे असत्य हैं, जब कि श्री जिन शासन सब नयों को अपने में समा लेता है अतः उसका निरूपण सर्वांश सत्य है ।

विचिकित्सा के दो प्रकार

विचिकित्सा भी दो प्रकार की है । विचिकित्सा अर्थात् धर्म के फल का सन्देह । देश विषयक विचिकित्सा यम नियम चैत्य वंदनादि किसी भी एक अनुष्ठान के फल का सन्देह उत्पन्न करती है जब कि सर्व विषयक विचिकित्सा चैत्यवंदनादि सभी अनुष्ठानों के फल में सन्देह

शक्ति के अनुसार यतना पूर्वक शक्य धर्मानुष्ठान का आराधन करने वाले साधु पुरुषों की निन्दा करने वाले महान अनर्थ को प्राप्त करते हैं ऐसा श्री जिन शासन में कहा है। काल, संहनन और धृति आदि के अनुरूप धर्म के विषय में पराक्रम करने वाली आत्मा को उसका शास्त्रोक्त फल अवश्य मिलता है, ऐसा समझ कर सदैव निर्विचि-कित्स रहना चाहिये।

अमूढदृष्टिता

मोक्ष मार्ग से रहित अन्य आत्माओं की विभूति विशेष देख कर जिसका चित्त उलझता नहीं अथवा भ्रान्त नहीं होता, वह आत्मा अमूढ दृष्टि कही जाती है। विभूति और रिद्धियाँ अनेक प्रकार की होती हैं। कुछ वशीकरणादि विद्या से सम्पादित होती हैं कुछ उपशमादि कष्टकारी तप करने से प्राप्त होती हैं और कुछ सुवर्ण सिद्धि आदि की साधना से सिद्ध होती हैं। तप इत्यादि से वैक्रिय लब्धि और आकाश गमनादि लब्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, आसन, शय्यादि अनेक प्रकार से पूजा की प्राप्ति होना यह भी ऋद्धि का ही प्रकार है। अन्य लिंग में रही हुई तथा मोक्ष मार्ग के विरुद्ध वर्तन करने वाली आत्माओं की भी पूजा, सत्कार,

उस प्रकार के वचनों द्वारा उत्साहित करना, मनुष्यभव की दुर्लभता आदि दशा का उपमहत बनाना, स्थिरीकरण नाम का दर्शनाचार है।

समान धर्मियों का भक्त पान और वस्त्रपात्रादि द्वारा वात्सल्य करना, वात्सल्य नाम का दर्शनाचार है। प्राघूर्णक (परोणा) आचार्य, ग्लान, तपस्वी, बाल आदि की विशेष भक्ति करने की क्रिया वात्सल्य गुण को प्रकाशित करने वाली है।

प्रभावना

प्रभावना आठवाँ दर्शनाचार है। स्वशक्ति द्वारा श्री जिन शासन को प्रकाशित करना, इसका नाम प्रभावना है। यद्यपि श्री जिनप्रवचन अनेक अतिशयों का निधान है। और अपने प्रभाव से ही प्रतिष्ठित है तो भी वह भव्य आत्माओं के मन के विषय में अधिक स्थिर हो ऐसा प्रयत्न करना, सम्यग्दृष्टि आत्मा का कर्तव्य है। अवधिज्ञानादि अतिशायिक ऋद्धि वाले, धर्मकथा की लब्धि वाले, वाद लब्धि वाले, प्रवचन के पारगामी आचार्यादि, छट्ठ अट्ठमादि विकृष्ट (कठिन) तप करने वाले, निमित आदि को जानने वाले, कवित्व शक्ति को धारण करने वाले और राजा प्रजादि बहुना मान्य पुरुष अपनी अपनी विभूति द्वारा

श्री जिन वचन की प्रभावना कर सकते हैं और मध्यस्थ भाव वाली आत्माओं को श्री जिन कथित तीर्थ पर बहुमान उत्पन्न करा सकते हैं।

सुश्रूषादि गुण

सद्बोध के कारणभूत धर्मशास्त्र सुनने की तीव्र इच्छा का नाम सुश्रूषा है। सुश्रूषा के बिना सुना और समझा हुआ श्रुत निष्फल है। सुश्रूषा भी पर और अपर दो प्रकार की है।

को पहले कहा का तात्पर्य यह है कि एक अपेक्षा से गुरु, देव की अपेक्षा भी प्रथम पूज्य है क्योंकि गुरु के उपदेश बिना सर्वज्ञ देव का बोध होना ही दुष्कर है। उन गुरुओं की यथाशक्ति अपनी शक्ति अनुसार भक्ति विधामणा अभ्यर्थना पूजादि निरन्तर करने का नियम सम्यग्दृष्टि जीवों में होता है।

सम्यग्दर्शन होने पर भी अणुव्रतादि न भी हो
। सम्यग्दर्शन आत्मा शुश्रूषादि गुणों को अवश्य धारण करने वाली होती है। परन्तु व्रत के अंगीकार के लिए ऐसा नियम नहीं। सम्यग्दृष्टि आत्मा अणुव्रतादि को अंगीकार करे भी और न भी करे क्योंकि सम्यक्त्व की प्राप्ति में दर्शन मोहनीय कर्म का क्षयोपशम आवश्यक है, चारित्र की प्राप्ति में उससे भी अधिक दर्शनमोहनीय के उपरान्त चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम की भी आवश्यकता है।

यद्यपि अपूर्वकरण से राग द्वेष की प्रगाढ़ गाँठ उच्छेदित हो जाती है जिससे सम्यग्दृष्टि आत्मा को चारित्र का पालन और व्रतों का अंगीकार यही अत्यन्त उपादेय भासित होते हैं तो भी जितनी कर्म स्थिति के ह्रास से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उतनी ही कर्म

वस्तु के विषय में असत्य बोलता है। सूक्ष्म वस्तु विषयक असत्य की अपेक्षा स्थूल वस्तु विषयक असत्यवाद में अध्यवसाय की दुष्टता अधिक रहती है।

तीसरे अणुव्रत में जिसे ग्रहण करने से चोरी का आरोप लगे ऐसी सचित्त (लवणादि), अचित्त (वस्त्रादि) और मिश्र (अश्वादि) स्थूल अदत्त वस्तुओं के ग्रहण का त्याग करता है।

चौथे अणुव्रत में औदारिक (मनुष्य और तिर्यञ्चणी) तथा वैक्रिय (विद्याधरी और देवी) पर स्त्रियों का त्याग करता है तथा स्व स्त्री के विषय में सन्तोष धारण करता है।

पाँचवे अणुव्रत में असद् आरम्भ की प्रवृत्ति करवाने वाले धनधान्यादि नौ प्रकार की वस्तुओं में इच्छा का परिमाण करता है।

छठे दिग्विरति व्रत में, ऊँचे पर्वतादि के ऊपर, नीचे कूपादि तथा तिर्यक् पूर्वादि दिशाओं में यावज्जीवन के लिये या चातुर्मासादि काल के लिये जाने आने का परिमाण करता है।

सातवें उपभोग परिभोग परिमाण व्रत में भोजनादि में अभक्ष्य अनन्तकायादि का त्याग करता है तथा व्यापारादि में अतिक्रूर कर्मवाले कोटवालादि और यन्त्र

त्याग करना है । निर्निमित्त पाप से बचना अनर्थ दंड है, निष्प्रयोजन आर्त-रौद्र ध्यान करना, अपध्यान है । बिना प्रयोजन के हिंसा के कारण शस्त्र, आयुध अग्नि, विषादि पदार्थ दूसर को देना हिंसा प्रदान है । अकारण कृष्यादि पाप क्रियाएं करने या उपदेश देना, पापोपदेश है और शरीरादि के प्रयोजन के बिना भी खाना पीना चलना-फिरना सोना बैठना या नाटक प्रेक्षण करना प्रमादाचरण है । ये चारो अनर्थदंड हैं ।

नवें सामायिक नाम के प्रथम शिक्षाव्रत में एक मुहूर्त पर्यंत सावद्ययोग (सपाप व्यापार) का त्याग और निरवद्य योग (निष्पाप व्यापार) का आसेवन करे ।

सामायिक आदि चार व्रत शिक्षा व्रत इसलिये कहे जाते हैं कि परमपद की प्राप्ति के लिये व बार बार सेवन योग्य हैं । शिक्षा अर्थात् अभ्यास अथवा परमपद प्रापिका क्रिया, तत्प्रधान व्रत, शिक्षाव्रत हैं ।

सम अर्थात् राग द्वेष का अभाव, उसका आय, अर्थात् लाभ-राग द्वेष विरहित मध्यस्थ आत्मा प्रतिक्षण चिन्तामणि और कल्पवृक्ष को भी पराभूत करने वाले निरुपम सुख के हेतुभूत-अपूर्व ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पर्याय को प्राप्त करता है, उसका नाम समाय है । वह समाय

लिए क्रियानुष्ठान का प्रयोजन है वह सामायिक कहा जाता है। अहर्निश मुहूर्तादि काल की मर्यादा से सपाप व्यापारों का वर्जन और निष्पाप व्यापारों का सेवन करना, सामायिक नाम का नवों व्रत है।

विगई के त्याग पूर्वक आयंबिल अथवा एकाशन करना। सर्व से आहार पौषध अर्थात् चारों प्रकार के आहार का अहोरात्रि के लिये त्याग करना। देश से शरीर पौषध अर्थात् शरीर के पूरे भाग से नहीं किन्तु अमुक भाग से सम्बन्धित ही सत्कारादि करना और सर्व से शरीर पौषध अर्थात् शरीर के सभी भागों को सत्कारादि न करना।

देश से ब्रह्मचर्य पौषध अर्थात् दिवस अथवा रात्रि में अब्रह्म का त्याग करना और सर्व से ब्रह्मचर्य पौषध अर्थात् दिवस रात्रि दोनों के लिये ब्रह्मचारी बनना।

देश से अव्यापार पौषध अर्थात् अमुक अमुक व्यापार का त्याग करना और सर्व से अव्यापार पौषध अर्थात् सांसारिक सभी व्यापारों का त्याग करना। देश से पौषध करे वह सामायिक अंगीकार करे, ऐसा नियम नहीं। सर्व से पौषध करे वह दिन रात्रि अथवा अहोरात्रि के लिये घर में या पौषधशाला में अवश्य सामायिक अंगीकार करे।

बारहवें अतिथिसंविभाग नाम के शिक्षा व्रत में शुद्ध और कल्पनीय अन्नादि देश कालोचित रीति से मुनि को अर्पण करे। आदि शब्द से पान, वस्त्र, औषधादि दे, किन्तु हिरन आदि नहीं। शुद्ध अर्थात् न्याय से प्राप्त

पाने की अरिहंत देव और गुरु की उपासना का निरन्तर भक्ति और बहुमान करनी चाहिए तथा [illegible] आत्मा की पवित्र गुणों की प्राप्ति हो इसके लिए [illegible] के विषय में सतत उद्यम करना चाहिए। इस प्रकार करते करते विरति का परिणाम उत्पन्न होता है और उत्पन्न हुआ हो तो स्थिर रहता है, चला नहीं जाता।

श्रावक के बारह व्रतों में अणुव्रत और गुणव्रत प्रायः यावज्जीवन के लिए ग्रहण होते हैं और शिक्षाव्रत अल्प काल के लिए अर्थात् सामायिक तथा देशावकाशिक प्रतिदिन करने हेतु तथा पौषधोपवास तथा अतिथिसंविभाग प्रति नियत दिनों में करने हेतु ग्रहण किए जाते हैं। प्रायः शब्द से अणुव्रत और गुणव्रत भी प्रति चातुर्मास आदि के लिये ग्रहण किए जा सकते हैं।

आयुष्य के अंत पर शास्त्र प्रसिद्ध संलेखना (अनशन क्रिया) पूर्वक श्रावक देह का त्याग करे।

संलेखना व्रत की आराधना

सर्व प्रकार की आराधनाओं में जिस सब से आवश्यक आराधना श्री जैन शासन ने बताया है, वह अंतिम आराधना है। उसका दूसरा नाम संलेखना व्रत है। जीवन में की हुई सारी आराधनाओं की सफलता का आधार इस अंतिम आराधना पर है। अंतिम समय अर्थात्

गुरु का योग न हो तो उत्तम श्रावक के मुख से उनका श्रवण करे।

गुरु कहते हैं-(१) 'मरण समय लिये हुए व्रतों में लगे हुए अतिचार की आलोचना करनी चाहिये। २ लिये हुए अथवा नहीं लिये हुए व्रतों को पुनः ग्रहण करने चाहिये। ३ सब जीवों को क्षमा देनी चाहिये। ४ अठारह पापस्थानकों का त्याग करना चाहिये। ५ चार शरणों को ग्रहण करनी चाहिये। ६ दुष्कृत की निन्दा करनी चाहिये। ७ सुकृत की अनुमोदना करनी चाहिये। ८ शुभ भावना ८ अनशन का आदर करना चाहिये। ६ शुभ भावना करना चाहिये और १० श्री पञ्चपरमेष्ठियों को नमस्कार करना चाहिये।

अतिचार आलोचना

साधु और श्रावकों के पालन योग्य पाँच आचार श्री जैन शासन में दर्शाये हुए हैं। उनके पालन में जितनी बेदरकारी बतायी हो अथवा उनके विरुद्ध आचरण किया हो, उन्हें यहाँ अतिचार समझना चाहिये। यथा सामर्थ्य होते हुए भी ज्ञानियों को अन्न, पान, वस्त्र पात्र आदि द्वारा सहायता न की हो, उनकी अवज्ञा की हो, उपहास किया हो अथवा उपघात किया हो, ज्ञान के साधन

गुरु का योग न हो तो उत्तम श्रावक के मुख से श्रवण करे।

गुरु कहते हैं—(१) 'मरण समय लिये हुए व्रतों में लगे हुए अतिचार की आलोचना करनी चाहिये। २ लिये हुए अथवा नहीं लिये हुए व्रतों को पुनः ग्रहण करने चाहिये। ३ सर्व जीवों को क्षमा देनी चाहिये। ४. अठारह पापस्थानकों का त्याग करना चाहिये। ५ चार शरणों को ग्रहण करनी चाहिये। ६ दुष्कृत की निन्दा करनी चाहिये। ७ सुकृत की अनुमोदना करनी चाहिये। ८ अनशन का आदर करना चाहिये। ९ शुभ भावना भाना चाहिये और १० श्री पंचपरमेष्ठियों का नमस्कार करना चाहिये।

अतिचार आलोचना

साधु और श्रावकों के पालन योग्य पाँच आचार श्री जैन शासन में दर्शाये हुए हैं। उनके पालन में जितनी बदरकारी बनायी हो अथवा उनके विरुद्ध आचरण किया हो, उन्हें यहाँ अतिचार समझना चाहिये। यथा सामर्थ्य होते हुए भी ज्ञानियों को अन्न, पान, वस्त्र पात्र आदि द्वारा सहायता न की हो, उनकी अवज्ञा की हो, उपहास किया हो अथवा उपघात किया हो, ज्ञान के साधन

से या परवशता से असत्य वचन उच्चार हो, मायादि का सेवन कर अन्य द्वारा न दिया हुआ धन भी ग्रहण किया हो देव सम्बंधी मनुष्य सम्बन्धी या तिर्यच सम्बन्धी मैथुन का सेवन किया हो अथवा सेवन करने की अभिलाषा की हो, धन धान्यादि नवविध परिग्रह के सम्बन्ध में यदि ममत्व भाव का पोषण किया हो तथा रात्रि भोजन त्याग में जो कोई अतिचार हुए हों उन सबकी आत्म साक्षी से निन्दा करनी चाहिये और गुरु साक्षी में गर्हा करनी चाहिये।

तप सम्बन्धी अतिचार जैसे अनशन, उनोदरी आदि छ प्रकार का बाह्य तप और प्रायश्चित, विनयादि छ प्रकार का अभ्यन्तर तप शक्ति अनुसार न किया हो, उसकी निन्दा और गर्हा करनी चाहिये।

वीर्य सम्बन्धी अतिचार यथा—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना में मन, वचन, काया का यथा शक्ति उपयोग न किया हो तथा वीर्याचार का पालन करने वाले की निन्दा उपेक्षा की हो, उसकी निंदा, गर्हा करनी चाहिये।

व्रतोच्चारण

प्राणातिपातविरमण आदि अठ पूर्व ...

द्वारा जगत के सर्व भावों को जानने और देखने वाले तथा देव रचित समवसरण में बैठकर धर्मोपदेश देने वाले, घातिकर्म से मुक्त, आठ प्रतिहार्यों की शोभा से युक्त तथा आठ प्रकार के मद स्थानों से रहित समाप्तरूपी सूर्य जिनका पुन उदय नहीं, चार शत्रुओं का नाश करने से जो अरिहंत बने हैं तथा तीनों जगत में जो पूजनीय हैं, उन श्री अरिहंतों की मुझे शरण प्राप्त हो।

भयंकर दुःख की लाखों लहरों से कठिनाई से तैरा जा सके ऐसे संसार समुद्र को जो तैर गये हैं और जिन्हें सिद्धि सुख की संप्राप्ति हुई है तपरूपी मुद्गर से जिन्होंने कर्मरूपी बेड़ियाँ तोड़ डाली हैं, ध्यानरूपी अग्नि के संयोग से जिन्होंने सारा कर्म मल जला डाला है, जिन्हें जन्म नहीं, जरा नहीं, मरण नहीं, चित्त का उद्वेग नहीं या क्रोधादि कषाय नहीं वैसे सुवर्ण समान निर्मल श्री सिद्धों की मुझे शरण प्राप्त हो।

बयालीस दोष रहित भिक्षा अंगीकार करने वाले पाँचों इन्द्रियों को वश करने में तत्पर, कामदेव के मान को तोड़ने वाले, ब्रह्मचर्य को धारण करने वाले, पाँच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त, महाव्रतोंरूपी मेरू का भार वहन करने में वृषभ समान, मुक्ति रमणी के

मार्ग को आगे बढ़ाया हो और दूसरों के लिये पाप का कारणभूत बना होऊं, उन सबकी अब मैं निन्दा करता हूँ।

जन्तुओं को त्रास देने वाले हल, मूसल आदि अधिकरण मैंने बनवाये हों और पापी कुटुम्ब का पोषण किया हो, उन सबकी अब मैं निन्दा करता हूँ।

सुकृतानुमोदना

अब पर के सुकृतों की अनुमोदना करनी चाहिये। यथा श्री जिन मंदिर श्री जिन प्रतिमा, श्री जिनागम और श्री चतुर्विध संघ इन उत्तम प्रकार के सातों क्षेत्रों में जो धन बीज मैंने बोया हो अथवा मन, वचन काया से उनकी भक्ति की हो, उस सुकृत की मैं बार बार अनुमोदना करता हूँ। इस संसार रूपी समुद्र में जहाज समान रत्नत्रयी का सम्यग् रूप से जो आसेवन मेरे से हुआ हो उस सारे सुकृत की मैं अनुमोदना करता हूँ। श्री अरिहंत, श्री सिद्ध, श्री आचार्य, श्री उपाध्याय, श्री साधु और श्री सिद्धान्त के विषय में मैंने जो आदर मान किया हो उसकी अनुमोदना करता हूँ। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव आदि षडावश्यकों में मैंने जो कुछ उद्यम किया हो, उस सुकृत की मैं अनुमोदना करता हूँ।

करना चाहिए। जीव समुदाय व वध के सिवाय आहार तैयार होता नहीं जिससे सब प्रमाण के कारणभूत जीव वध से विराम करवाने वाले चतुर्विध आहार का त्याग करना चाहिए। जिस आहार का सर्वथा रूप से त्याग करने से देवों के अधिपत्य वाला इन्द्र भी स्वाधीन होता है और अत्यन्त दूर स्थित मोक्ष का सुख भी निकट आता है अतः चारों प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए।

श्री नमस्कार मन्त्र

अन्तिम आराधना के लिये अन्तिम और समर्थ कृत्य श्री नमस्कार महामन्त्र का स्मरण है। उस मंत्र का अंतिम समय अवश्य स्मरण करना चाहिए। पाप परायण जीव को भी यदि अंत समय पर वह प्राप्त हो जाये, तो उसकी गति को सुधार देता है देवत्व अथवा उत्तम कोटि का मनुष्यत्व प्राप्त करवाता है। स्त्रियाँ मिलनी सुलभ हैं, राज्य मिलना सुलभ है देवत्व मिलना सुलभ है परन्तु श्री नमस्कार महामन्त्र की प्राप्ति होनी दुर्लभ है। एक भव से दूसरे भव में जाते समय श्री नमस्कार मन्त्र की सहायता से प्राणी मनोवांछित सुख प्राप्त करते हैं। जिस श्री नवकार मंत्र की प्राप्ति से भवरूपी समुद्र भी गाय के खुर के जितना छोटा हो जाता है तथा जो श्री नवकार मंत्र मोक्ष

जहाँ साधुओं का आगमन हो श्री जिन चैत्य हों और समान धर्मी श्रावक का निवास हो।

साधुओं के आगमन से वन्दनादि का लाभ मिले, साधुओं की वन्दना से पाप का नाश हो, साधुओं के मुख से धर्म का श्रवण करने से श्रद्धा निश्चल बने तथा साधुओं को प्रासुक अन्नादि दान से निर्जरा और सम्यग्‌ज्ञानादि का अनुग्रह हो। चैत्यों की वन्दनादि करने से मिथ्यात्व का नाश हो, सम्यग्दर्शन की विशुद्धि हो और पूजादि महोत्सवों द्वारा शासन की प्रभावना हो। साधर्मियों के सहवास से धर्म में स्थिरीकरण हो, शासन के सार तुल्य साधर्मिक वात्सल्य का लाभ मिले तथा परस्पर मार्ग सहायादि से धर्म की वृद्धि हो।

श्रावक का दैनिक कृत्य

अब 'श्रावक का प्रतिदिन क्या कर्तव्य होता है?' यह बताते हैं। श्रावक नवकार महामन्त्र के स्मरणपूर्वक जाग्रत हो अर्थात् निद्रा से जाग्रत होने पर सर्व प्रथम श्री नवकार महामन्त्र का स्मरण कर फिर स्वयं द्वारा अंगीकार किये हुए व्रतादि का स्मरण करे। तत्पश्चात् आवश्यक क्रिया करे। उसके बाद शरीर चिन्ता करके गृह मन्दिर में आये वहाँ चैत्यवदन करे। तदुपरान्त माता पितादि

जहाँ साधुओं का आवागमन हो, श्री जिन चैत्य हों और समान धर्मी श्रावक का निवास हो।

साधुओं के आवागमन से वन्दनादि का लाभ मिले, साधुओं की वन्दना से पाप का नाश हो, साधुओं के मुख से धर्म का श्रवण करने से श्रद्धा निश्चल बने तथा साधुओं को प्रासुक अशनादि दान से निर्जरा और सम्यग्ज्ञानादि का अनुग्रह हो। चैत्यों की वन्दनादि करने से मिथ्यात्व का नाश हो, सम्यग्दर्शन की विशुद्धि हो और पूजादि महोत्सवों द्वारा शासन की प्रभावना हो। साधर्मिकों के सहवास से धर्म में स्थिरीकरण हो, शासन के सार तुल्य साधर्मिक वात्सल्य का लाभ मिले तथा परस्पर मार्ग सहायादि से धर्म की वृद्धि हो।

श्रावक का दैनिक कृत्य

अब 'श्रावक का प्रतिदिन क्या कर्तव्य होता है?' यह बताते हैं। श्रावक नवकार महामन्त्र के स्मरणपूर्वक जाग्रत हो अर्थात् निद्रा से जाग्रत होने पर सर्व प्रथम श्री नवकार महामन्त्र का स्मरण कर फिर स्वयं द्वारा अंगीकार किये हुए व्रतादि का स्मरण करे। तत्पश्चात् आवश्यक क्रिया करे। उसके बाद शरीर चिन्ता करके गृह मन्दिर में जाय वहाँ चैत्यवन्दन करे। तदुपरान्त माता पितादि

हुए प्रकरणादि की चिन्तवना करे और आत्मा के साथ एकमेक बनावे।

उसके उपरान्त घर जाकर गुरुवाक्य को मन में स्मरण करके सो जाय। उसमें से अब्रह्म की विरति करे, मोह की निन्दा करे और स्त्री शरीर के जुगुप्सनीय स्वरूप का बार बार चिन्तन करे। अब्रह्म से विराम प्राप्त मति पुरुषों का हृदय से सम्मान करे। रात्रि में निद्रा टूट जाय तब आत्मा कर्म, परलोक आदि सूक्ष्म पदार्थों का चिन्तवना करे। प्रतिक्षण हो रहे आयुष्य के क्षय का विचार करे। प्राणवधादि असदाचरणों से होने वाले नरकादि दुष्ट विपाकों का चिन्तन करे और थोड़े समय में अधिक लाभ देने वाले धर्मानुष्ठान से होने वाले विविध प्रकार के (कर्मनिर्जरा पुण्योपार्जनादि) फलों का विचार करे अथवा जो जो दोष आत्मा को बाधक, हों उन उन दोषों के प्रतिपक्षी सद्गुणों का बारम्बार चिन्तन करे इत्यादि चिन्तन करने से आत्मा में संवेग रस का उद्भव होता है और मोक्ष सुख का अनुराग उत्पन्न होता है।

卐

नमस्कार के स्मरणपूर्वक जाग्रत हुआ श्रावक स्वकुल, स्वधर्म, स्व नियमादि को याद करे। प्रतिक्रमण करके पवित्र हो कर, गृह जिनमन्दिर की पूजा करके प्रत्याख्यान करे। ५

उचित चिन्ता में लीन श्रावक श्री जिनगृह में जा कर विधिपूर्वक श्री जिन की अर्चना करे। उसके पश्चात् दृढ़ पंचाचार का पालन करने वाले गुरु के पास जाकर पच्चक्खाण का उच्चारण करे। ६

तदुपरान्त स्वधर्म का पालन हो उस प्रकार व्यवहार शुद्धि पूर्वक देश निन्दादि का त्याग करते हुए और (माता पिता पुत्रादि) उचित वृत्ति का पालन करते हुए अर्थ चिन्ता (धनोपार्जन) करने के लिये उद्यम करे। ७

मध्याह्न में श्री जिनपूजा, सुपात्रादि को दान तथा भोजन करके पच्चक्खाण करे और गीतार्थ गुरु के पास जाकर स्वाध्याय करे। ८

संध्या समय पुनः अनुक्रम से श्री जिन पूजन, प्रतिक्रमण, मुनियों का विश्रामण (भक्ति) तथा विधिपूर्वक आत्म ध्यान (स्वाध्याय) करे। उसके पश्चात् घर गया हुआ वह (स्वजनों को) धर्म कहे। ९

प्रायः अब्रह्म (मैथुन सेवन) से विरत श्रावक अवसर पर अल्प निद्रा करे। निद्रा का उपशम होने पर भी